कारणशुद्धपर्याय

उपशम भाव
क्षयोपशम भाव
क्षायक भाव
कारणशुद्धपर्याय
तत्त्व
अतत्त्व
उत्पाद-व्यय
-ध्रुवत्व
अकर्तृत्व
अमूर्तत्व
चिति
परिणम्यपरिणामकत्व
अकार्य
कारणत्व
अभोक्तृत्व
विरुद्धधर्मत्व
अनन्तधर्मत्व
निष्क्रियत्व
सर्वज्ञत्व
जीवत्व
साधारणा-साधारण
-साधारणासाधारण
धर्मत्व
सम्प्रदान
नियतप्रदेशत्व
वीर्य
त्यागोपादानशून्यत्व
अनेकत्त्व
सर्वदर्शित्व
असंकुचित
विकाशत्व
प्रभुत्व

कारणशुद्धपर्याय

नियमसार ग्रन्थ की गाथा ३, ८, ९, १०, १४, व १५ पर हुए

आध्यात्मिक सत्पुरुष पूज्य श्री कानजी स्वामी के मार्मिक प्रवचन

सम्पादक :

डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल

शास्त्री, न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न, एम. ए. पी. एच. डी.

श्री टोडरमल स्मारक भवन, ए-४ बापूनगर, जयपुर - ३०२ ०१५

प्रकाशक :

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

ए-४ बापूनगर, जयपुर - ३०२ ०१५

कारणशुद्ध पर्याय	:	डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल
प्रथम चार संस्करण (25 दिसम्बर 1993 से अद्यतन्)	:	10 हजार
पंचम संस्करण (31 जुलाई, 2017)	:	01 हजार
योग	:	**11 हजार**

मूल्य : 12 रुपये

टाईपसैटिंग :
प्रिन्टोमैटिक्स
दुर्गापुरा,
जयपुर–302018

मुद्रक :
सन् एन सन प्रेस
तिलक नगर, जयपुर

प्रस्तुत संस्करण की कीमत कम करनेवाले दातारों की सूची

1.	श्री अमित जैन, डलास (यू.एस.ए.)	2,100
2.	श्रीमती पुष्पलता जैन (जीजीबाई) ध.प. अजितकुमारजी जैन, छिन्दवाड़ा	1,100
3.	श्री मानिकचन्दजी जैन 'एडपैनवाले', मुम्बई	1,100
4.	स्व. श्री शान्तिनाथ सोनाज, अकलूज	501
5.	श्रीमती नीरा जैन ध.प. देवेन्द्रकुमारजी जैन, जसवन्तनगर	501
6.	श्रीमती मीनादेवी तेजप्रकाशजी जैन, दिल्ली	501
	कुल राशि	**5,803**

प्रकाशकीय

आध्यात्मिकसत्पुरुष पू. श्री कानजीस्वामी ने जिनागम का रहस्योद्‌घाटन करते हुए अनेक ऐसे विषयों पर प्रकाश डाला है, जिनकी ओर समाज का ध्यान ही नहीं था। उन विषयों में 'त्रिकाली ध्रुव आत्मा', 'क्रमबद्धपर्याय' के साथ-साथ 'कारणशुद्धपर्याय' भी एक ऐसा विषय है, जिस पर उन्होंने साधिकार सांगोपांग प्रकाश डाला है। उनके द्वारा प्रतिपादित अन्य विषयों पर तो पर्याप्त साहित्य प्रकाशित हो गया है, पर कारणशुद्धपर्याय पर जितनी और जैसी चर्चा होनी चाहिए थी, वह उपलब्ध नहीं है। अतः हमने डॉ. भारिल्लजी से अनुरोध किया कि वीतराग-विज्ञान में 'कारणशुद्धपर्याय' पर आलेख आना चाहिए और भी अनेक मुमुक्षु भाईयों का अनुरोध था; अतः डॉक्टर साहब ने नियमसार पर हुए आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजीस्वामी के प्रवचनों के आधार पर इस विषय को सुसम्पादित कर वीतराग-विज्ञान में लेखमाला आरम्भ की, जो अब पूरी हो चुकी है।

यद्यपि मुमुक्षु भाईयों ने उससे भरपूर लाभ उठाया है, तथापि वह अनेक अंकों में बिखरी पड़ी है। इस कारण उसका व्यवस्थित स्वाध्याय करना असाध्य नहीं तो दुस्साध्य अवश्य है। अतः स्वाध्यायार्थियों की भावना और सुविधा को ध्यान में रखते हुए उक्त सामग्री को पुस्तकाकार प्रकाशित कर रहे हैं।

यद्यपि इसका सुसम्पादन वीतराग-विज्ञान में प्रकाशित होते समय ही हो गया था, तथापि विषय की गम्भीरता को देखते हुए हमने डॉक्टर साहब से अनुरोध किया कि वे इसे एक बार और देख लें तो सम्पूर्ण विषयवस्तु पूर्णतः व्यवस्थित होकर सामने आ जाएगी। हमारे अनुरोध को स्वीकार कर उन्होंने इसे एक बार और गहराई से देख लिया है, अन्तिम प्रूफ भी देख लिए हैं; अतः अब यह पूर्ण व्यवस्थित होकर आप तक पहुँच रहा है।

ध्यान रहे इसमें नियमसार की तत्सम्बन्धित विषय-वस्तु को स्वामीजी ने जिस रूप में प्रस्तुत किया है, उसे पूरी तरह उसी रूप में यहाँ दिया गया है; क्योंकि विषय की गम्भीरता की दृष्टि से यह अत्यन्त आवश्यक था। अतः थोड़ी-बहुत पुनरुक्ति हो सकती है; पर विषय की जटिलता की दृष्टि से उसका होना आवश्यक भी है।

इसका स्वाध्याय करते समय हमें तो अपूर्वता भासित होती ही है, यदि गहराई

से अध्ययन किया तो आपको भी लगेगा कि यह अद्भुत है। डॉ. भारिल्ल तो सदा कहते हैं कि यदि पूज्य गुरुदेव श्री इसका रहस्योद्घाटन न करते तो हम इसका मर्म नहीं पा सकते थे। यह उनके ही वश की बात थी। हमारी हिम्मत तो अभी भी इस विषय पर कलम उठाने की नहीं होती है।

यद्यपि यह विषय नियमसार पर हुए गुरुदेवश्री के प्रवचनों के रूप में तो यथासमय प्रकाशित होगा ही, तथापि पृथक् से प्रकाशन लोगों के ध्यान को इस विषय की ओर विशेष आकर्षित करने के लिए ही किया जा रहा है। यह विषय भी मुक्तिमार्ग में उतना ही उपयोगी है, जितना कि क्रमबद्धपर्याय और त्रिकाली ध्रुव आत्मा। अतः सभी आत्मार्थियों को इसका स्वाध्याय भी उसी श्रद्धा-भक्ति के साथ करना चाहिए।

इसका स्वाध्याय करते हुए मेरी आँखों में तो बार-बार आँसू आ जाते हैं और विचार आता है कि यदि हमें गुरुदेवश्री का समागम नहीं मिलता तो हम इस तत्त्व से वंचित ही रह जाते।

अधिक क्या लिखूँ; मैं तो यह जानता हूँ कि जो भाग्यशाली होगा, वही इसका गहराई से स्वाध्याय करेगा। अन्त में इस कृति के सम्पादन में डॉ. भारिल्लजी ने, एवं प्रकाशन व्यवस्था में अखिल बंसल ने जो श्रम किया है; तदर्थ हम उनके आभारी हैं और उन्हें हार्दिक धन्यवाद देते हैं।

आप सभी पुस्तक के मर्म को हृदयंगम कर मुक्तिपथ की ओर अग्रसर हों ऐसी मेरी पवित्र भावना है।

– ब्र. यशपाल जैन, एम.ए.
प्रकाशन मंत्री
पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर

कारणशुद्धपर्याय

देखो, यह संतों की वाणी ! वन की गुफा में रहकर दिगम्बर मुनिवरों ने आत्मा के अनुभव में लेखनी डुबा-डुबाकर यह भाव निकाले हैं। छट्ठे-सातवें गुणस्थानवर्ती आत्मा के आनन्द में झूलते हुए मुनियों के अन्तर की गहराई से यह भाव प्रगट हुए हैं। अहो ! संत अपूर्व उत्तराधिकार छोड़ गये हैं। शुद्धरत्नत्रयरूपी जो तेरा कर्तव्य है, उसका कारण तेरे स्वभाव में ही प्रवर्तमान है। अन्तर में जब देखे तब मोक्षमार्ग का कारण तुझ में प्रवर्तमान ही है। इस कारण को पहिचानकर इसके साथ एकता करने से मोक्षमार्गरूपी कार्य हो जाता है।

अन्तर में कारण कार्य की एकता साधते-साधते इस टीका की रचना हो गई है। देखो तो सही !टीकाकार ने कैसे भाव निकाले हैं। वन में बैठे-बैठे सिद्धों के साथ बातें की हैं।

यह नियमसार की वचनिका हो रही है। भगवान श्री कुन्दकुन्दचार्य देव ने इस नियमसार में अलोकिक भाव भरे हैं और पद्मप्रभमलधारिदेव मुनिराज ने भी टीका में अध्यात्म के अलोकिक भाव प्रकट किये हैं।

यहाँ तीसरी गाथा चल रही है –

णियमेण य जं कज्जं तं णियमं णाणदंसणचरित्तं।
विवरीयपरिहरत्थं भणिदं खलु सारमिदि वयणं॥ ३॥

जो नियम से करने योग्य हो, वह नियम है अर्थात् ज्ञान-दर्शन-चारित्र ही नियम है और उससे विपरीत के परिहारार्थ 'सार' – ऐसा वचन कहा है।

यथार्थरूप से करने योग्य जो रत्नत्रय है, वह नियम है; किन्तु ऐसा कहने से व्यवहाररत्नत्रय के राग को भी कोई मोक्ष का कारण न मान बैठे, इसलिये आचार्यदेव स्पष्टीकरण करते हैं कि 'नियम' के साथ 'सार' शब्द कहकर हमने

विपरीत का परिहार किया है अर्थात् निश्चयरत्नत्रय से विपरीत ऐसा व्यवहाररत्नत्रय का राग, वह मोक्षमार्ग नहीं है ; किन्तु बंधमार्ग है — ऐसा बतलाया है । मोक्ष के लिये यदि कोई कर्तव्य है तो वह रागरहित शुद्धरत्नत्रय ही है । इसके अतिरिक्त शुभ रागरूप जो व्यवहाररत्नत्रय है, वह मोक्ष का कारण नहीं है ।

अहो ! निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप जो शुद्धरत्नत्रय है, वही मोक्षमार्ग है। इसके अतिरिक्त व्यवहाररत्नत्रय का विकल्प भी निश्चयरत्नत्रय से विपरीत है, उसके आश्रय से मोक्षमार्ग नहीं है— ऐसा जानकर उस व्यवहार का अवलम्बन छोड़ने जैसा है ।

यहाँ शुद्धरत्नत्रय को नियम से कर्तव्य कहा, तो उस कर्तव्य का कारण कौन ?- शुद्धरत्नत्रयस्वरूप नियम मोक्षमार्ग है — वह कार्यरूप है। कर्तव्यरूप जो कार्यनियम उसका कारण कौन ? उसका यहाँ टीका में स्पष्टीकारण किया है । कारण उसे कहते हैं, जिसके आश्रय से कार्य प्रगट हो । जिसप्रकार कार्य वर्तमान में होता है, उसीप्रकार उसका आश्रयभूत कारण भी वर्तमान ही होता है ।

यहाँ बात तो करना है मोक्षमार्ग की, किन्तु टीका में साथ ही साथ उसका 'कारण' भी बतलाकर अलोकिक बात कही है ।

'नियमसार' अर्थात् स्वभावरत्नत्रय । उस स्वभावरत्नत्रय के दो प्रकार हैं— एक कारणरूप और दूसरा कार्यरूप ; यहाँ उनका कारणनियम और कार्यनियमरूप से वर्णन करते हैं ।

'जो सहज परमपारिणामिक भाव में स्थित, स्वभावअनंतचतुष्टयात्मक शुद्धज्ञानचेतनापरिणाम है, वह कारणनियम है । और निश्चय से जो करने योग्य है, अर्थात् प्रयोजनरूप है — ऐसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र कार्यनियम है ।'

देखो, यह कारणनियम और कार्यनियम की अद्भुत व्याख्या !

कारणनियम तो सर्व जीवों में त्रिकाल प्रवर्तमान है, वह नवीन नहीं करना पड़ता ; किन्तु उस कारणनियम का भान करने से, उसके आश्रय से कार्यनियमरूप मोक्षमार्ग नवीन प्रगट होता है और वही वास्तव में कर्तव्य है।

मोक्षमार्ग कैसे होता है ? यह बात भी इसमें आ गई। पर के आश्रय से, राग से या व्यवहाररत्नत्रय के अवलम्बन से मोक्षमार्ग नहीं होता, अन्तर में शुद्ध कारण सदैव प्रवर्तमान है, उस कारण के आश्रय से ही मोक्षमार्ग रूपी कार्य प्रगट होता है।

मूल सूत्र में तो 'णियमेण य जं कज्जं........' अर्थात् 'नियम से जो कर्तव्य है........' ऐसा कहकर आचार्यदेव शुद्धरत्नत्रयस्वरूप मोक्षमार्ग बतलाना चाहते हैं और टीकाकार मुनिराज ने उस मोक्षमार्गरूपी कार्य के साथ उसके कारण का भी वर्णन करके अद्भुत टीका की है।

जिसप्रकार समयसार में अमृतचन्द्राचार्यदेव ने ऐसी शैली में टीका की है कि मूल सूत्र में अस्ति की बात हो तो वे साथ ही नास्ति की बात करते हैं, और नास्ति की बात हो तो साथ ही अस्ति की बात करते हैं; उसीप्रकार इस नियमसार में पद्मप्रभमलधारिदेव मुनिराज ने कार्य के साथ ही त्रैकालिक कारण की (कारणशुद्धपर्याय की) बात करके टीका में अलोकिक रहस्य का उद्घाटन किया है। यह अपूर्व बात है, अनेक जीवों ने तो जीवन में यह बात सुनी भी नहीं होगी।

जीव को नियम से करने योग्य जो कार्य है, वह नियम है। शरीरादि जड़ पदार्थों के कार्य तो आत्मा से पृथक् हैं, अत: वे जीव के कार्य नहीं हैं; इसलिए उनकी तो यहाँ बात ही नहीं है। मिथ्यात्व और राग-द्वेष रूपी कार्य को प्रतिक्षण करता हुआ यह जीव अनादि से संसार परिभ्रमण कर रहा है; इसलिए वह भी जीव का सच्चा कर्तव्य नहीं है।

अत : अब विचार करते हैं कि जीव को नियम से करने योग्य कार्य

कौन-सा है ?

जिससे संसार का अभाव हो और परमानन्द रूप मोक्षदशा प्रगट हो, — ऐसे रत्नत्रयरूप सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र ही नियम से कर्तव्य हैं। इसलिए शुद्धरत्नत्रय ही नियमसार है।

प्रश्न :— जो नियम से करने योग्य शुद्धरत्नत्रयरूपी कार्य है, उस कार्य का कारण कौन है ?

उत्तर :— आत्मा में सहज अनन्तचतुष्टयमय शुद्धज्ञानचेतना परिणाम त्रिकाल है, वह सहज परमपारिणामिक भाव में स्थित है और वही रत्नत्रय प्रगट होने में मूल कारण है — इसकारण के मनन से कार्य प्रगट होता है अर्थात् इस कारणरूप शुद्धज्ञानचेतना की ओर दृष्टि एकाग्र होने से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग प्रगट हो जाता है।

यह 'शुद्धचेतना परिणाम' परमपारिणामिक भावमय है, स्वभावरूप अनन्तचतुष्टयमय है। तेरहवें गुणस्थान में जो केवलज्ञानादि अनन्तचतुष्टय प्रगट होते हैं— यह उनकी बात नहीं है ; किन्तु यह तो उसकी बात है, जो सर्वजीवों के त्रिकाल स्वभाव अनंतचतुष्टय शुद्धज्ञानचेतना परिणाम है।

यह जो स्वभाव अनन्तचतुष्टमय कहे हैं, वे परमपारिणामिक भावरूप हैं। और जो केवलज्ञानादि चतुष्टय प्रगट हुए हैं, वे क्षायिकभावरूप हैं।

यहाँ यह बतलाया जा रहा है कि जीव को मोक्षमार्ग का प्रयोजन है तथा इस प्रयोजन की सिद्धि किसके आश्रय से होती है ?

जो स्वभाव अनन्तचतुष्टयात्मक सहज परमपारिणामिक भाव में स्थित है — उस शुद्धज्ञान चेतना परिणाम के आश्रय से मोक्षमार्ग प्रगट होता है। यहाँ जो शुद्धज्ञानचेतना परिणाम कहा है, वह त्रिकाल परमपारिणामिक भाव है। औदयिकादि भावों से निरपेक्ष है और द्रव्यदृष्टि का विषय है।

चेतना के तीन प्रकारों में जो ज्ञानचेतना है, वह तो पर्याय रूप है, कार्य

है और व्यवहारनय का विषय है तथा त्रैकालिक शुद्धज्ञानचेतना परिणाम है, वह द्रव्यरूप है, कारण है और निश्चयनय का विषय है; इसके अवलम्बन से निर्मलपर्यायरूप कार्य प्रगट होता है।

देखो, यह संतों की वाणी। वन की गुफा में रहकर दिगम्बर मुनिवरों ने आत्मानुभवरूपी लेखनी डुबा-डुबाकर यह भाव लिखे हैं। अहो! यह संतों की अपूर्व देन है।

शुद्धरत्नत्रयरूपी जो तेरा कर्तव्य है, उसका कारण भी तेरे स्वभाव में ही प्रवर्तमान है; इसे पहिचान कर इसमें एकाग्र होने पर मोक्षमार्ग प्रगट होता है। देखो तो सही! टीकाकार ने कैसे गम्भीरभाव निकाले हैं। वन में बैठे-बैठे सिद्धों से इसप्रकार बातें की हैं कि 'हे सिद्ध भगवान! आप किसके आश्रय से सिद्ध हुए हैं। तो जैसे सिद्ध भगवान जवाब दे रहे हों कि अन्तर में जो सहज शुद्धज्ञानचेतना परिणाम त्रिकाली कारण है, उसके आश्रय से ही हमें सिद्धदशा प्रगट हुई है।' तथा ऐसा सुनकर मुनिराज भी स्वयं ऐसे कारण परमात्मा का सेवन करके सिद्धदशा की साधना कर रहे हैं। — ऐसे मुनियों ने इस टीका की रचना की है।

नियमसार अर्थात् शुद्धरत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग, जो किसी बाह्यकारण से प्रगट नहीं होता। देह या राग मोक्षमार्ग का कारण नहीं है, परन्तु अन्तर में प्रवर्तमान शुद्ध ज्ञानचेतना परिणाम ही मोक्षमार्ग का कारण है — ऐसा बतलाकर आचार्यदेव ने देह तथा राग में अपनत्व बुद्धि छुड़ाई है।

शुद्धरत्नत्रयरूप जो निश्चय मोक्षमार्ग है, उसे मोक्ष का कारण कहना भी व्यवहार है; क्योंकि उस पर्याय के आधार से भी मोक्षपर्याय प्रगट नहीं होती। शुद्धरत्नत्रय निश्चय से मोक्षमार्ग है और उस मोक्षमार्ग को मोक्ष का कारण कहना व्यवहार है। सहज शुद्धज्ञानचेतना परिणाम जिसका आगे कारणशुद्धपर्याय कहकर वर्णन करेंगे, मोक्ष का निश्चय कारण है; क्योंकि उसके आधार से — आश्रय से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र और मोक्षदशा प्रगट

होती है तथा मोक्षदशा में भी उस कारण का अभाव नहीं होता, मोक्षदशा में भी वह सदैव साथ रहता है।

त्रैकालिक सामान्यरूप ध्रुव और उसका वर्तमान वर्तता हुआ विशेषरूप ध्रुव– दोनों अभेद हैं और द्रव्यदृष्टि के विषय हैं। जिसप्रकार सहज परमपारिणामिकभाव त्रिकाल ध्रुवरूप हैं, उसीप्रकार उस परमपारिणामिकभाव में स्थित यह स्वभावचतुष्टमय शुद्धज्ञानचेतना परिणाम भी ध्रुवरूप है, कारणनियमरूप है ; जो प्रत्येक आत्मा में त्रिकाल एकरूप स्थित है, पारिणामिकभावरूप है, उसमें परिणमन कहा जाता है ; किन्तु यह परिणमन सदृशरूप है, संसार और मोक्षपर्याय की भाँति उत्पाद-व्ययरूप परिणमन नहीं है — ऐसा कारणस्वभाव अन्तर्दृष्टि का विषय है। ऐसे कारण को पहिचाने तो निर्मल कार्य (सम्यग्दर्शनादि) हुए बिना न रहे।

अपने मोक्ष का कारण अपने पास सतत् रूप से निरन्तर प्रवाहित है अर्थात् मोक्षमार्ग प्रगट होने की कारणरूप शक्ति प्रत्येक जीव के पास त्रिकाल विद्यमान है, उसके सेवन से मोक्षमार्ग प्रगट होता है। इसके अतिरिक्त बाह्य व्यवहार कारण के आश्रित मोक्षमार्ग प्रगट नहीं होता। जिसप्रकार मोर होने की शक्ति उसके अंडे में विद्यमान है, इसलिये उसमें से मोर होता है ; उसीप्रकार चैतन्य की शक्ति में परमात्मदशा प्रगट होने की सामर्थ्य विद्यमान है, इसलिए उसमें से ही परमात्मदशा प्रगट होती है।

अरे भाई ! अपने आत्मा की शक्ति का इसप्रकार विश्वास एवं महत्त्व भासित होना चाहिये कि परमात्मशक्ति मुझमें ही है, उसे कहीं बाहर से प्रगट नहीं होना है। यहाँ तो शुद्धज्ञानचेतना परिणाम कहकर सामान्य ध्रुव के साथ विशेष ध्रुव बतलाना है। वह निकट का कारण है, उसे कारणनियम कहा है और उस कारणनियम में अनन्त मोक्षपर्याय प्रदान करने की सामर्थ्य है। परमपारिणामिकभाव परम-उत्कृष्ट स्वभाव से परिपूर्ण है और उसमें स्थित स्वभाव अनन्त चतुष्टयस्वरूप सहज शुद्धज्ञानचेतना परिणाम, वह कारणनियम है। 'कारणनियम' कहकर मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव ने दूसरे

कारणों का अभाव बतलाया है अर्थात् रागादि व्यवहार वास्तव में कारण नहीं हैं — ऐसा समझाया है । अंतर में सहजपारिणामिक त्रिकालभाव और उसके शुद्धचेतना परिणाम निश्चय कारण हैं, उस कारण के आश्रय से नियम से मोक्षमार्ग प्रगट होता है ।

कार्यनियम के साथ कारणनियम की बात करके अद्भुत रहस्य का स्पष्टीकरण किया है । कारणनियमरूप स्वभाव प्रत्येक आत्मा में प्रवर्तमान ही है, उस ओर उन्मुख होकर उसका आश्रय करने से कार्यनियमरूप मोक्षमार्ग प्रगट होता है । —इसप्रकार अपना अंतर्मुख स्वभाव ही कारण है । जिसप्रकार कार्य वर्तमान है, उसीप्रकार उस कार्य के आधाररूप ध्रुवकारण भी वर्तमान है । जिसप्रकार सामान्यद्रव्य त्रिकाल ध्रुव है, उसीप्रकार उसका विशेषरूप वर्तमान ध्रुव भी वर्तता है, यदि वर्तमान परिपूर्ण कारणरूप से ध्रुव न वर्तता हो तो उसमें मोक्षमार्गरूपी कार्य प्रगट होने की सामर्थ्य कहाँ से आयेगी ? जो निर्मल कार्य है, वह वर्तमान वर्तते हुए ध्रुवकारण के साथ अभेद होता है ।

यहाँ 'सामान्यध्रुव' और 'विशेषध्रुव' — ऐसा कहकर कहीं ध्रुव के दो भाग नहीं बतलाना है, किन्तु ध्रुवस्वभाव की परिपूर्णता बताना है । जिसप्रकार त्रैकालिक सामान्य ध्रुव है, उसीप्रकार उसका वर्तमान विशेष भी ध्रुव है, उसी के आश्रय से निर्मल कार्य प्रगट हो जाता है, इसलिये उसे कारण अर्थात् 'कारणशुद्धपर्याय' कहते हैं । त्रैकालिक अभेद स्वभाव का बल वर्तमान में भी ज्यों का त्यों है । वह दृष्टि का विषय है, किन्तु उसका वेदन नहीं होता, वेदन तो उसके आश्रय से जो निर्मलपर्याय प्रगट होती है, उसका होता है ।

धरती में भीतर का भाग अच्छा हो, किन्तु ऊपरी सतह क्षारयुक्त हो तो उसमें वृक्ष नहीं उगता; धरती के भीतरी भाग के समान उसका ऊपरी भाग भी अच्छा हो तो उसके आधार से वृक्ष उगता है । उसीप्रकार आत्मा में त्रैकालिक ध्रुवस्वभाव का भीतरी भाग शुद्ध है और उसकी वर्तमान सतह भी वैसी ही शुद्ध है — उसके आधार से मोक्षमार्गरूपी वृक्ष उगता है । 'वर्तमान' कहने से यहाँ वर्तमान में वर्तती हुई उत्पाद-व्यय युक्त पर्याय नहीं लेना चाहिये । 'वर्तमान ध्रुव का ही आश्रय करना है' — इसप्रकार यहाँ पर्याय

का आश्रय न बताकर ध्रुव का आश्रय करना बतलाना है।

अहो ! चैतन्यभगवान, ध्रुवज्ञायक स्वभाव से परिपूर्ण परमपारिणामिकभाव है, उसका सहज चेतनापरिणाम भी वर्तमान ध्रुव है। भाई ! तू अन्तर में जब देखे, तब मोक्ष का कारण तेरे पास वर्तमान में ही विद्यमान है, उसे नया उत्पन्न नहीं करना है; उस कारण का आश्रय करने से कार्य प्रगट हो जाता है। कारण कहीं बाह्य में ढूंढने नहीं जाना पड़ता। जब देखो, तब ही ज्यों का त्यों ध्रुव वर्तमान में तेरे पास ही विद्यमान है, उसकी प्रतीति, ज्ञान और रमणता करना ही मोक्षमार्ग है। ध्रुवकारण तो त्रिकाल विद्यमान है और उसे पहिचानने पर मोक्षमार्ग नया प्रगट होता है।

मोक्षमार्ग– शुद्धरत्नत्रय कार्यनियम है और ध्रुवस्वभाव कारणनियम है। कारणनियम को बनाना नहीं पड़ता, वह तो त्रिकाल रहता है। अन्तर में तो आत्मा सदा ही कारणनियमरूप से शोभायमान है, उसके अन्तर्मुख अवलोकन से कार्यनियम प्रगट हो जाता है। मोक्षमार्ग प्रगट करना ही नियम से जीव का कर्तव्य है।

भाई ! तेरे अन्तर में कैसे-कैसे भण्डार भरे हैं, उसकी यह बात है। जिसप्रकार लक्ष्मी की रुचिवाले रागी प्राणी को कोई हीरे-मोतियों का भण्डार बतलाये, तो वह उसे कितनी रुचिपूर्वक देखता है। उसीप्रकार जिसे आत्मा की रुचि है, उसे यहाँ मुनिराज अन्तर के भण्डार बतलाते हैं। भाई ! तेरा भण्डार ऐसा है कि जिसमें से मोक्ष के अनंत निधान प्रगट हों। अंतरनेत्रों को खोलकर देखे तभी खबर पड़े।

अन्तर के भंडार को देखें तो अपने मोक्ष के लिये बाह्य कारण ढूंढने का व्यर्थ प्रयत्न न करना पड़े। जिसे अपनी अंतरशक्ति का विश्वास नहीं है और वह बाह्य में कारणों को ढूंढता है, उससे कहते हैं कि अरे जीव ! तेरे मोक्षमार्गरूपी कार्य का कारण स्वभावरत्नत्रय त्रिकाल तेरे पास ही है, उसके आश्रय से तेरा कार्य प्रगट हो जायेगा। इसके अतिरिक्त अन्य किसी कारण के अवलम्बन से मोक्षमार्ग प्रगट नहीं हो सकता।

प्रत्येक आत्मा में परमात्मदशा प्रगट होने की शक्ति है, इसलिए प्रत्येक आत्मा कारणपरमात्मा है। 'कारणपरमात्मा' कहने से त्रिकाली द्रव्य, गुण और उसकी वर्तमान रूप कारणशुद्धपर्याय — तीनों आ जाते हैं। यहाँ कारणशुद्धपर्याय को (शुद्धज्ञानचेतनापरिणाम को) 'कारणनियम' कहकर मोक्षमार्ग के कारण की एकदम निकटता बतलाई है। द्रव्य, गुण और कारणशुद्धपर्याय — इन तीनों का कहीं पृथक्-पृथक् अवलम्बन नहीं है, सम्यग्दर्शनादि में इन तीनों की अभेदता का ही अवलम्बन है। इस वर्तमान ध्रुवरूप कारणशुद्धपर्याय के बिना द्रव्य की वर्तमान में परिपूर्णता सिद्ध नहीं होती — द्रव्य की अखण्डता सिद्ध नहीं होती।

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और काल — इन चार द्रव्यों में अनादि-अनन्त एक-सा परिणमन है, उनकी पर्याय सदैव पारिणामिकभाव से वर्तती है। सबको जाननेवाला ज्ञायकतत्त्व जीव है, उसकी पर्यायें संसार या मोक्षरूप उत्पाद-व्ययवाली हैं, वे सदैव एकरूप नहीं हैं। जीव में इन उत्पाद-व्यय रहित ध्रुवरूप ऐसी कारणशुद्धपर्याय अनादि-अनन्त पारिणामिकभाव से वर्तती है। यह केवलज्ञानादि प्रगट होने की बात नहीं है, किन्तु यह तो त्रिकाली पारिणामिकभाव की बात है।

संसार और मोक्ष — ये दोनों पर्यायें अस्थाई हैं अर्थात् वे त्रिकाल एकरूप नहीं हैं। संसार के समय मोक्षपर्याय नहीं होती और मोक्ष के समय संसारपर्याय नहीं होती — इसप्रकार उनका विरह है; जबकि कारणशुद्धपर्याय तो सदैव एकरूप स्थाई है। द्रव्य में त्रिकाल अभेदरूप होने से उसका कभी विरह नहीं है, वह उत्पाद-व्यय रहित ध्रुवपरिणति है।

धर्मास्तिकायादि चार द्रव्यों में तो उत्पाद-व्यय वाली परिणति पारिणामिकभाव से सदैव एकरूप है और जीव की उत्पाद-व्यय रूप पर्याय में एकरूपता नहीं है, किन्तु विविधता है। कभी मिथ्यात्वादि संसारपर्याय, कभी सम्यग्दर्शनादि साधकदशा और कभी पूर्ण शुद्धतारूप सिद्धदशा — इसप्रकार खण्ड-खण्ड है, एकरूप नहीं। जीव की जो खण्डरहित एकरूप

ध्रुवपरिणति है, उसे यहाँ 'शुद्ध ज्ञानचेतना परिणाम' कहा है, वह सदैव एकरूप पारिणामिकभावस्वरूप है ।

मोक्षमार्ग की पर्याय को अथवा क्रोधादि कषायों की पर्याय को कभी-कभी पारिणामिकभावरूप कहा जाता है, उसमें तो दूसरी ही विवक्षा है । क्रोधादिभाव कर्म नहीं कराते, किन्तु जीव स्वयं करता है अर्थात् वह जीव का अपना परिणमन है, इसलिये उसे पारिणामिकभावरूप भी कहा जाता है, तथापि उसमें निमित्तरूप से तो कर्मोदय आदि की अपेक्षा है । जबकि इस कारणशुद्धपर्याय में तो निमित्तरूप से भी कर्म की अपेक्षा नहीं है, यह तो कर्मोदयादि की अपेक्षारहित सदैव पारिणामिकभावरूप वर्तती है। औदयिकादि चारों भाव निमित्त सापेक्ष हैं, और यह कारणशुद्धपर्याय पारिणामिकभाव की निरपेक्ष परिणति है ।

धर्मास्तिकायादि चार द्रव्यों के परिणमन में अल्पता, अधिकता या विपरीतता नहीं है, उनमें तो सदैव समानता ही है, उन सबका ज्ञाता तो आत्मा है और आत्मा में संसार, मोक्षमार्ग और मोक्ष — यह पर्यायें त्रिकाल एकरूप नहीं है ।

यहाँ प्रश्न है कि संसार, मोक्षमार्ग और मोक्ष के अतिरिक्त ऐसा कौन-सा भाव है, जिसके आश्रय से एकाग्रता हो सके ?

इसका उत्तर है कि स्वयं आत्मा में भी एक ध्रुवपरिणति अनादि-अनंत एकरूप शुद्ध पारिणामिकभाव से वर्तती है। द्रव्य, गुण और कारणशुद्ध पर्याय — यह तीनों अखण्डरूप से द्रव्यार्थिकनय का पूर्ण विषय हैं । यह जैनदर्शन की मूल बात है, इसके बिना द्रव्य की वर्तमान अखण्डता सिद्ध नहीं होती । दृष्टि का विषय वर्तमान में पूर्ण नहीं होता । जीव की पर्याय में संसार या मोक्ष— ऐसी विसदृशता होने पर भी द्रव्य, गुण और कारणशुद्धपर्याय की एकरूपता कभी नहीं टूटती ।

जैनदर्शन कहो या वस्तुदर्शन कहो — एक ही बात है । अहो ! यह तो

संत मुनियों ने सर्वज्ञ भगवान के सनातन वीतराग मार्ग के अंतरंग रहस्यों का उद्‌घाटन किया है।

प्रश्न :– कारणशुद्धपर्याय की ऐसी स्पष्टता इस नियमसार में ही क्यों आई ?

उत्तर :– इस नियमसार में मुख्यरूप से मोक्षमार्ग और मोक्ष का कथन है, वे दोनों शुद्ध पर्यायें हैं, इसलिये उस शुद्धपर्यायरूपी कार्य के साथ उसके कारणरूप 'कारणशुद्धपर्याय' की बात इस नियमसार की टीका में विशेष स्पष्टता से आई है।

प्रश्न :– नियमसार का अर्थ क्या है ?

उत्तर :– जो नियम से करने योग्य कार्य हो, वह नियमसार है।

प्रश्न :– नियम से करने योग्य कार्य क्या है ?

उत्तर :– शुद्धरत्नत्रय।

शुद्धरत्नत्रयरूपी कार्य के लिए निकट का कारण, द्रव्य के साथ सदैव अभेद यह 'कारणशुद्धपर्याय' है ; इस कारण के अवलम्बन से ही मोक्षमार्गरूपी शुद्धकार्य प्रगट होता है। 'शुद्धकारण' के मनन से 'शुद्धकार्य' प्रगट होता है।

देखो यह रचना ! यह किसी साधारण पुरुष की रचना नहीं है, किन्तु गणधर परम्परा से चली आ रही और छट्ठे-सातवें गुणस्थान में झूलते हुए मुनि के अंतरंग से निकली हुई अद्‌भुत रचना है। स्वयं न समझ सकने से टीकाकार का दोष निकालना तो महामूढ़ता और स्वच्छन्दता है। भाई ! साधारण जीवों को मुनियों का हृदय समझना कठिन है।

१००वीं गाथा में टीकाकार मुनिराज कहते हैं कि मेरे मुख से परमागमरूपी पुष्प का रस झर रहा है, इसलिए जो यह टीका रची जा रही है, वह परमागम का निचोड़ है, परमागम का सार है।

में लीनतारूप वर्तती है ; यह कभी गौण नहीं होती, कभी एक समय मात्र भी इसका विरह नहीं है, दृष्टि के विषय में भी यह अभेदरूप से आ जाती है। अन्तर्मुख स्वभाव की ओर ढलने में 'द्रव्य, गुण और कारणशुद्धपर्याय' इन तीनों की अभेदता का अवलम्बन होता है और इसके अवलम्बन से सम्यग्दर्शनादि निर्मलपर्यायें प्रगट हो जाती हैं, वे पर्यायें उत्पाद-व्ययरूप हैं। चैतन्य का परिपूर्ण ध्रुवपिण्ड वर्तमान में कारणरूप से प्रवर्तमान हो रहा है, उसमें एकाग्र होकर उसका मनन करने से मोक्षमार्ग प्रगट हो जाता है।

ध्रुव कारण के अवलम्बन से जो मोक्षमार्ग प्रगट हुआ, वह कार्यनियम है अर्थात् वही सच्चा करने योग्य कर्तव्य है। इसके अतिरिक्त जो राग का या व्यवहार का अवलम्बन है, वह सच्चा कर्तव्य नहीं है। मोक्षमार्ग में साथ ही साथ व्यवहाररत्नत्रय भी होता है, किन्तु वह कर्तव्य नहीं है। जो व्यवहाररत्नत्रय या राग को कर्तव्य मानता है, वह जीव मोक्षमार्ग में आया ही नहीं।

समयसार की बारहवीं गाथा में कहा है कि 'जाना हुआ व्यवहार उसकाल प्रयोजनवान है' अर्थात् साधकदशा में भूमिकानुसार जिस काल में जो व्यवहार हो, वह जानने योग्य है ; क्योंकि निश्चय और व्यवहार को यथावत् जाने, तभी वे प्रमाण होते हैं। इस आशय से उसे उसकाल 'जाना हुआ व्यवहारनय प्रयोजनवान है' – ऐसा कहा है ; किन्तु व्यवहारनय आदरणीय रूप से प्रयोजनवान नहीं है।

व्यवहारनय के आश्रय से लाभ माने तो मिथ्यादृष्टि है। आचार्य भगवान ने जो व्यवहारनय का आश्रय छुड़ाकर निश्चयनय के आश्रय से ही मोक्ष का होना स्पष्टरूप से बतलाया हे, अज्ञानी जीव उसे भूलकर और इस बारहवीं गाथा आदि के अर्थ को भी यथार्थ न समझकर अपनी विपरीत मान्यता का पोषण करता है।

यहाँ आचार्यदेव स्पष्टरूप से कहते हैं कि निश्चयरत्नत्रय ही मोक्षमार्ग है, इसलिये वही नियम है और व्यवहाररत्नत्रय उससे विपरीत है, उस विपरीत

के परिहारार्थ अर्थात् व्यवहाररत्नत्रय के आश्रय से मोक्षमार्ग नहीं है — ऐसा बतलाने के लिये 'नियम' के साथ 'सार' शब्द रखा है। व्यवहाररत्नत्रय वह नियम नहीं है, कर्तव्य नहीं है, मोक्षमार्ग नहीं है; किन्तु बाधकरूप से बीच में आ जाता है। कारण-परमात्मा के अवलम्बन से जो वीतरागी निश्चयरत्नत्रय प्रगट हो, वह नियम है, कर्तव्य है, मोक्षमार्ग है।

इसप्रकार निश्चयरत्नत्रय ही नियम से मोक्षमार्ग है और वही सारभूत है।

कविवर पं. बनारसीदासजी ने परमार्थवचनिका में आगम-अध्यात्म के स्वरूप का वर्णन किया है, उसमें भी अध्यात्मरूप शुद्धचेतनापद्धति का वर्णन करके यह बात बतलाई है। वहाँ अन्त में तो यहाँ तक कहा है कि 'कहाँ तक कहें ? यह वस्तु वचनातीत है, इन्द्रियातीत है, ज्ञानातीत अर्थात् तर्कातीत है; जो ज्ञाता होगा वह तो थोड़ा लिखा भी बहुत समझेगा।'

जो अन्तर की यह बात समझेगा, उसका कल्याण हुए बिना नहीं रहेगा। नियमसार की तीसरी गाथा में जिसका वर्णन 'शुद्धचेतनापरिणाम' कहकर किया गया है। यहाँ उसी का वर्णन 'शुद्धचेतनापद्धति' कहकर किया है। यह बहुत अच्छी बात है, इसलिये इसकी वचनिका हो रही है। इस समय दूसरी बातें लक्ष्य से निकालकर यह समझना चाहिये कि यह कौनसी शैली कही जा रही है।

वस्तु का जो स्वभाव, उसे आगम कहते हैं। आत्मा का जो अधिकार, उसे अध्यात्म कहते हैं। आगम तथा अध्यात्मस्वरूप भाव आत्मद्रव्य के जानने। वे दोनों भाव संसार व्यवस्था में त्रिकालवर्ती मानने।[1]

देखो, यह गुलाबजामुन जैसा रसपूर्ण अधिकार परोसा जा रहा है। बात सूक्ष्म है, जिसकी समझ में आये उसे समझना चाहिये और जो न समझ सके उसे 'यह कोई अचिन्त्य मोक्षमार्ग का वर्णन हो रहा है' — ऐसी महिमा लाकर सुनना चाहिए।

१ परमार्थ वचनिका (मोक्षमार्गप्रकाशक, परिशिष्ट ३, पृष्ठ ३५२)

शास्त्रों को आगम कहते हैं – यह बात तो यहाँ है ही नहीं, जिसमें छहों द्रव्यों का वर्णन हो, वह आगम तथा जिसमें आत्मा का ही प्रधानता से वर्णन हो, वह अध्यात्म – ऐसा भी यहाँ आगम-अध्यात्म का अर्थ नहीं है। यहाँ तो शैली ही भिन्न है। 'वस्तु का जो स्वभाव, उसे आगम कहते हैं।' 'वस्तु का स्वभाव' कहने से यहाँ 'पर्याय का स्वभाव' समझना चाहिये। आगमपद्धति और अध्यात्मपद्धति – इन दोनों में यहाँ परिणाम की ही बात है। विकारी भाव मूल द्रव्य-गुण में नहीं है, किन्तु पर्याय में अनादि से पम्परागत चले आ रहे हैं; इसलिये वे आगम पद्धतिरूप हैं। एक समयपर्यंत पर्याय उस विकार को बनाये रखती है, इसलिये वह विभावपर्याय का स्वभाव है। विकार के निमित्तरूप जड़कर्म हैं, उन्हें भी आगमपद्धति में लिया है।

अध्यात्मपद्धति तो आत्मा के स्वाभाविक परिणाम हैं और आगमपद्धति आत्मा के साथ सम्बन्ध रखनेवाले परिणाम हैं। आत्मा की पर्याय में विकार अनादि से परम्परागत होता रहता है और उसके निमित्तरूप कर्म का सम्बन्ध भी अनादिकाल से है, वह विकार और कर्म न तो आत्मा के स्वभाव में हैं और न पुद्गल के। कर्म होने का त्रिकालीगुण पुद्गल में नहीं हैं, वे क्षणिक आगन्तुकभाव हैं, उन्हें यहाँ आगमपद्धति कहा है। आगमपद्धति आत्मा का मूलस्वभाव नहीं है, किन्तु आत्मा के साथ क्षणिक सम्बन्ध रखनेवाला परिणाम है।

आत्मा का जो अधिकार, उसे अध्यात्म कहते हैं। अध्यात्मपद्धति में त्रिकाल शुद्धचेतनापरिणाम लिया है, वह आत्मा का मूल स्वभाव है; इसलिये उसे आत्मा का अधिकार कहा है।

यह आगम तथा अध्यात्मस्वरूप भाव आत्मद्रव्य के जानना। अध्यात्मस्वरूप भाव तो आत्मा के शुद्धस्वभावपरिणाम हैं और आगमरूप भाव क्षणिक विभावरूप हैं, उस विभाव के कर्म निमित्त हैं, इसलिये उस कर्म को भी यहाँ आत्मा का भाव कहा है।

नियमसार में तो अनेकों जगह इस विषय का वर्णन किया है, उदाहरण के लिए देखा जा सकता है । जैसे–

नियमसार की तीसरी गाथा में शुद्धरत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग को 'कार्यनियम' कहा और उसके साथ शुद्धज्ञानचेतनापरिणाम को 'कारणनियम' कहा । इसप्रकार नियमसार के आरम्भ में ही कारणशुद्धपर्याय का संकेत कर दिया है ।

फिर दसवीं गाथा में उपयोग के भेदों का वर्णन करते हुए कारणस्वभाव ज्ञानोपयोग और कार्यस्वभाव ज्ञानोपयोग की बात कही है, उसमें भी यही ध्वनि है । कारणज्ञान को ग्यारहवीं-बारहवीं गाथा में 'स्वरूपप्रत्यक्ष' कहा है ; और इस कथन को 'ब्रह्मोपदेश' कहा है ।

तत्पश्चात् तेरहवीं गाथा में कारणस्वभावदर्शनोपयोग का अथवा कारणदृष्टि और कार्यदृष्टि का मुख्य वर्णन करके उसमें यह बात रख दी है ।

और पन्द्रहवीं गाथा में स्वभावपर्याय के कारणशुद्धपर्याय और कार्यशुद्धपर्याय ऐसे दो प्रकारों का वर्णन किया है। उनमें इस कारणशुद्धपर्याय का स्पष्ट वर्णन किया है । इसके अतिरिक्त अन्य अनेक स्थानों पर भी इस बात की झन्कारें पद्मप्रभमलधारिदेव ने रखी हैं। स्थान-स्थान पर कारण और कार्य का एक ही साथ वर्णन किया है ; इसलिये मात्र क्षणिककार्य की पर्यायबुद्धि न हो, किन्तु कारणरूप ध्रुवस्वभावोन्मुख होकर पर्याय निर्मल हो, वही सच्चा कार्य है ।

समयसार गाथा ९० में कहा है कि 'परमार्थ से तो उपयोग शुद्ध निरंजन अनादिनिधन वस्तु के सर्वस्वभूत चैतन्यमात्र भावरूप से एकप्रकार का है ।' –इसमें से भी कारणशुद्धपर्याय की ध्वनि प्रगट होती है ।

यह आगमरूप तथा अध्यात्मरूप – दोनों भाव संसार अवस्था में त्रिकालवर्ती मानना । देखो, इसमें मूल मुद्दा यह है कि संसार अवस्था के

समय अध्यात्मपद्धतिरूप शुद्धचेतना परिणाम भी सदैव वर्त रहा है। —यह मुख्य अलौकिक बात है; इसमें से कारणशुद्धपर्याय की ध्वनि निकलती है।

यहाँ परमार्थ वचनिका में आगमपद्धति और अध्यात्मपद्धति — इन दोनों में परिणाम की अर्थात् पर्याय की बात है। ये दोनों संसार दशा में त्रिकालवर्ती हैं, किन्तु इनमें इतना अन्तर है कि अध्यात्मपद्धतिरूप शुद्धचेतनापरिणति तो संसार में और मोक्ष दोनों में अनादि-अनन्त एकरूप वर्तती है; और आगमपद्धति के परिणाम संसार दशा में ही होते हैं, वे एकरूप नहीं हैं। सर्व जीवों को यह दोनों प्रकार के भाव संसार में सदैव वर्तते हैं।

यह बात सबको ध्यान से सुनना चाहिये। यह बात सुनने को मिलना भी दुर्लभ है; तथा जो समझ ले, उसकी तो बात ही क्या ?

नियमसार की तीसरी गाथा में 'शुद्धज्ञानचेतनापरिणामों' को स्वभाव अनन्तचतुष्ट- यात्मक कहा और यहाँ 'शुद्धचेतनापद्धति' कहकर उसमें अनन्तगुणों के परिणाम लिये। 'शुद्धचेतनापरिणाम' से अकेले ज्ञान-दर्शन के परिणामों की बात है — ऐसा नहीं समझना चाहिए; किन्तु अभेदरूप से उसमें अनन्तगुणों के परिणाम आ जाते हैं, उन्हें यहाँ 'जीवत्वपरिणाम' कहा है।

इसप्रकार जीवद्रव्य में और उसके समस्त गुणों में सदृशरूप शुद्धपरिणाम अनादि- अनन्त पारिणामिकभावरूप से — शुद्धकारणरूप से वर्त रहे हैं, उसे यहाँ आध्यात्मरूप शुद्धचेतनापद्धति कहा है। नियमसार में उनका वर्णन कारणशुद्धपर्यायरूप से किया है। यह कारणशुद्धपरिणाम सर्व जीवों में त्रिकाल वर्तमान वर्तमान वर्त रहे हैं, संसारदशा के समय भी हैं और अज्ञानी के भी हैं।

'परिणाम' कहने पर भी उनका द्रव्यार्थिकनय के विषय में समावेश होता है।

देखो, यह भाव आत्मा में से आते हैं; आत्मा के स्वभाव में जो वस्तु

प्रवर्तमान है, उसे विषय करने का यह बात है । यह अन्तर को समझने योग्य अलौकिक बात है ।

यहाँ आगम तथा अध्यात्मस्वरूप भाव आत्मद्रव्य के जानना तथा संसारदशा में उन्हें त्रिकालवर्ती मानना — ऐसा कहा, उसमें जानने और मानने रूप जो निर्मलपर्याय है, उसका फल मोक्ष है । अध्यात्म और आगम इन दोनों पद्धतियों को जानने से जीव के शुद्धस्वरूपभाव और क्षणिक विभावरूप भाव— इन दोनों का भेदज्ञान होकर मोक्षमार्ग का प्रारम्भ हो जाता है ; यह मोक्षमार्ग की पर्याय तो नई अपूर्व प्रगट होती है और आगमपद्धति तथा अध्यात्मपद्धति तो ज्ञानी व अज्ञानी सर्वजीवों के अनादिकाल से संसार में प्रवर्तमान ही हैं ।

अनादि संसार से सर्वजीवों को आगम और अध्यात्मरूप भाव वर्त रहे हैं । उनमें आगमरूप कर्मपद्धति है और अध्यात्मरूप शुद्धचेतनापद्धति है ।

(१) जड़कर्म और जड़कर्म के उदय में होनेवाला विकारीभाव — दोनों की परम्परा अनादि से चली आ रही है, ये दोनों कर्मपद्धति में आते हैं तथा आगमरूप हैं ।

(२) और इनके साथ ही शुद्धचेतनापरिणामों की परम्परा भी अनादि से चली आ रही है, वह शुद्धचेतनापद्धति है और वह अध्यात्मरूप है ।

अब 'कर्मपद्धति तथा शुद्धचेतनापद्धति' — इन दोनों का विवेचन करते हैं—

आगमरूप कर्मपद्धति

"कर्मपद्धति पौद्गलिक द्रव्यरूप अथवा भावरूप है । उसमें द्रव्यरूप तो पुद्गल के परिणाम हैं और भावरूप पुद्गलाकार आत्मा की अशुद्ध परिणतिरूप परिणाम है । इन दोनों परिणामों की स्थापना आगमरूप से की है ।"

पुद्गल में अनादिप्रवाह से कर्मरूप अवस्था चली आ रही है, वह द्रव्यरूपकर्मपद्धति है और जीव के मूलस्वभाव में अशुद्धता न होने पर भी

पर्याय में अनादि से अशुद्धता की परम्परा चली आ रही है, वह भावरूप कर्मपद्धति है। जीव की अशुद्धपरिणति पुद्गलकर्म के आश्रय से होती है, इसलिये उस अशुद्धता को 'पुद्गलाकार' कहा है। पुद्गल में अष्टकर्मरूप अवस्था है, वह द्रव्यरूप कर्मपद्धति है और उसके निमित्त से होनेवाली जीव की अशुद्धपरिणति, वह भावरूप कर्मपद्धति है। यहाँ इस बात का ध्यान रखना कि जिसप्रकार यह कार्यपद्धति परिणामरूप है, उसीप्रकार शुद्धचेतनापद्धति भी परिणामरूप है; जिसका वर्णन आगे करेंगे।

प्रश्न :– त्रिकाली द्रव्य-गुण में विकार न होने पर भी पर्याय में विकार क्यों होता है ? क्या वह विकार द्रव्य-गुण में से आया है ?

उत्तर :– त्रिकाली द्रव्य-गुण में विकार न होने पर भी पर्याय में विकार होता है, वहाँ ऐसा ही कर्मपद्धति का स्वभाव है, अर्थात् उस-उस पर्याय का ऐसा ही अहेतुकस्वभाव है। वह विकार द्रव्य-गुण में से भी नहीं आया और दूसरे द्रव्यों में से भी नहीं आया ; किन्तु वह पर्याय विकारी भावरूप परिणमित हुई है – ऐसा ही उस पर्याय का स्वभाव है। देखो, पुद्गल परमाणुओं में ऐसा कोई त्रिकाली गुण नहीं है कि वह कर्मरूप परिणमित हो ; तथापि वे कर्मरूप परिणमित होते हैं। इसीप्रकार जीव में भी ऐसी कोई त्रिकाली शक्ति नहीं है कि जो विकार उत्पन्न करे, फिर भी उसकी अवस्था में विकार होता है। इसका कारण है कि ऐसी ही उस पर्याय की योग्यता है, ऐसा ही उस पर्याय का अहेतुकस्वभाव है।

इस सम्बन्ध में चिद्विलास ग्रन्थ में कहा है कि 'जिसप्रकार पुद्गल वस्तु के स्कन्ध - विकार हो ऐसा पुद्गल में कोई गुण तो नहीं है; किन्तु उस पुद्गल वस्तु के परिणाम उस स्कन्ध – विकारभावरूप स्वांग धारण करके परिणमित होते हैं, अन्य किसी द्रव्य के परिणाम उस कर्मविकार भाव को धारण करके परिणमित नहीं होते, किन्तु यह एक पुद्गल ही वह स्वांग धारण करके प्रवर्तमान होता है – यह सत्य है। उसीप्रकार इस जीववस्तु के परिणाम भी रंजक-मलिन, संकोच, विस्तार, अज्ञान, मिथ्यादर्शन, अविरति आदि

चेतन-विकाररूप होकर परिणमित होते हैं, ऐसा चिद्विकारभाव तो उस चेतनद्रव्य के परिणामों में देखा जाता है, अचेतनद्रव्य के परिणामों में वह कभी नहीं देखा जाता । – यह बात निःसन्देह है ।

इसप्रकार जो विकारभाव है, वह अपने-अपने परिणामों में होता है और उस-उस द्रव्य के परिणामों के आश्रित वह विकार होता है । अतः उसे भी निश्चय कहा जाता है ।

यहाँ इतना बतलाना है कि त्रिकालीद्रव्य में तथा गुण में विकार न होने पर भी पर्याय में विकार होता है – ऐसा ही उसका स्वभाव है । उसमें से पुद्गल में कर्मरूप विकारी अवस्था की जो परम्परा अनादि से चली आ रही है, वह द्रव्यरूप कर्मपद्धति है और जीव में अशुद्धतारूप विकारी अवस्था की जो परम्परा अनादि से चली आ रही है, वह भावरूप कर्मपद्धति है ।

कर्मपद्धति के द्रव्यरूप और भावरूप – इन दोनों परिणामों की आगमरूप स्थापना की है । इस कर्मपद्धति के परिणाम मोक्षगामी भव्य जीव के अनादि-सान्त हैं और मोक्ष के लिये अयोग्य जीव को अनादि-अनन्त हैं । – इसप्रकार जीव को जबतक संसार है, तबतक इन परिणामों की परम्परा त्रिकालवर्ती मानना और अध्यात्मरूप शुद्धचेतनापद्धति में जो शुद्ध परिणामों की परम्परा है, वह तो सर्वजीवों को अनादि-अनन्त प्रतिसमय वर्तती है – ऐसा जानना ।

देखो, यहाँ कर्मपद्धति को आगम कहकर आगम की व्याख्या भी भिन्न शैली से की है; और शुद्धचेतनापद्धति को अध्यात्म कहकर उसकी व्याख्या भी भिन्न प्रकार से करेंगे ।

जीव में विकार और पुद्गलकर्म –इन दोनों परिणामों की स्थापना आगमरूप से की । ऐसी ही अनादि परम्परा है – इसमें 'ऐसा क्यों ?' – ऐसा कोई तर्क नहीं है ; अपने-अपने कारण से ऐसी पर्यायें होती हैं – ऐसा ही कर्मपद्धति का स्वभाव है । विकार वस्तु का मूलस्वभाव नहीं है, किन्तु

आगन्तुक भाव है, वह अनादि परम्परा से चला आ रहा है ; इसलिये उसे 'आगम' कहा है । जीव के द्रव्य-गुण में विकार नहीं है, तथापि पर्याय में विकार हुआ ; उसीप्रकार पुद्गल के द्रव्य-गुण में कर्मरूप होने का स्वभाव न होने पर भी पुद्गल में कर्मरूप पर्याय हुई ; क्योंकि वस्तु का ऐसा ही कोई अहेतुकस्वभाव है, — वस्तु के ऐसे स्वभाव को जान ले तो भेदज्ञान हुए बिना न रहे ।

—इसप्रकार आगमरूप कर्मपद्धति का विवेचन पूरा हुआ ।

अध्यात्मरूप शुद्धचेतनापद्धति

शुद्धचेतनापद्धति अर्थात् शुद्धात्मपरिणाम भी द्रव्यरूप और भावरूप दो प्रकार के हैं। उनमें द्रव्यरूप तो जीवत्वपरिणाम हैं और भावरूप ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्यादि अनन्तगुणपरिणाम हैं। इन दोनों परिणामों को अध्यात्मरूप जानना ।

यहाँ नियमसार की कारणशुद्धपर्याय के साथ संधिवाली जो मुख्य बात है, वह इस शुद्धचेतनारूप अध्यात्मपद्धति में से निकलती है। ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्यादि समस्त गुणों में संसार अवस्था के समय भी शुद्ध परिणामों की परम्परा प्रवर्तमान है ।

वे कौन से शुद्ध परिणाम हैं, जो संसारी के भी विद्यमान रहते हैं ?

संसारदशा के समय जो प्रगट उत्पादरूप परिणाम हैं, वे कहीं शुद्ध नहीं हैं, उनमें तो अशुद्धता है । यदि प्रगट उत्पाद परिणामों में सदैव शुद्धता ही हो, तो किसी जीव के संसार ही नहीं रहे । इसलिये यह प्रगट उत्पादरूप परिणामों की बात नहीं है और त्रिकाली द्रव्य-गुणों की भी यह बात नहीं है ; क्योंकि आगम और अध्यात्म दोनों पद्धतियों में परिणामों की ही बात है ।

अध्यात्मपद्धति में जो त्रिकालवर्ती शुद्धपरिणाम कहे हैं, वे ध्रुवरूप हैं, सदैव सदृशपरिणामरूप हैं । जीवद्रव्य में ध्रुव परिणतिरूप शुद्धपरिणामों की जो परम्परा है, वह द्रव्यरूप शुद्धचेतनापद्धति है ; और ज्ञान-दर्शनादि प्रत्येक

गुण में ध्रुवपरिणतिरूप शुद्धपरिणामों की जो परम्परा है, वह भावरूप शुद्धचेतनापद्धति है।

द्रव्यरूप शुद्धचेतनापद्धति में तो पूर्ण जीवद्रव्य के परिणाम लिये हैं और भावरूप शुद्धचेतनापद्धति में प्रत्येक गुण के परिणाम लिये हैं।

आगमपद्धति में जीव के विकारी परिणामों को पुद्गलाकार कहा था। यहाँ अध्यात्मपद्धति में चेतनापरिणाम अर्थात् कारणशुद्धपर्याय है, वह जीव के स्वभावाकाररूप है। स्वभावाकार परिणति जीव में सदैव शुद्धरूप से प्रवर्तमान है।

पद्धति का क्या अर्थ है ?

परम्परागत प्रवाह अथवा रीति-रिवाज; परम्परा से जो रिवाज चला आ रहा हो, उसे पद्धति कहते हैं।

आत्मा के रीति-रिवाज क्या हैं, उसकी पद्धति क्या है ?

भाई ! शुद्धचेतनापरिणाम की परम्परा ही तेरे आत्मा की पद्धति है, उसी में तेरे आत्मा का अधिकार है। विकार की परम्परा में आत्मा का अधिकार नहीं है, अर्थात् आत्मा के स्वभाव में विकार का स्वामित्व नहीं है।

कर्मपद्धतिरूप पर्याय वह आगम और शुद्धचेतनापद्धतिरूप पर्याय वह अध्यात्म – ये दोनों अनादि से एक साथ ही चले आ रहे हैं; तथापि आगम में अध्यात्म नहीं है और अध्यात्म में आगम नहीं है अर्थात् विकार की परम्परा में आत्मा का स्वभाव नहीं है और आत्मा के स्वभावपरिणाम की परम्परा में विकार का अधिकार नहीं है। इसलिये विकार में ढूँढने से आत्मा नहीं मिलेगा।

शुद्धचेतनापद्धति में ही आत्मा का अधिकार है। जिसमें आत्मा का स्वामित्व है, जिस परिणाम में आत्मा सदैव विद्यमान है – ऐसे शुद्धचेतना के रीति-रिवाजरूप शुद्धात्मपरिणाम हैं, वे अध्यात्मरूप हैं, उनमें आत्मा का अधिकार है; इसलिए उनकी सन्मुखता से आत्मा प्राप्त होता है।

अनादि से परम्परागत चली आ रही है विकार तथा कर्म की धारा को यहाँ आगमपद्धति कहा है।

अनादि से परम्परागत चली आ रही शुद्धता की धारा अर्थात् शुद्धचेतना परिणतिरूप धारा को यहाँ अध्यात्मपद्धति कहा है।

—इसप्रकार विकार और शुद्धता दोनों की धारा अनादि परम्परा से चली आ रही है। इसमें से यहाँ शुद्धता की धारा को (कारणशुद्धपर्याय को) कारणरूप से स्वीकार किया गया है, यहाँ मोक्षमार्ग निर्मलपर्याय की धारा प्रारम्भ होती है।

यहाँ मुख्य दो ही विभाग किये हैं ; एक ओर जड़कर्म और उनकी ओर की भावरूप पुद्गलाकार अशुद्ध परिणति, वह कर्मपद्धति है और दूसरी ओर शुद्धचेतनास्वभाव तथा उस स्वभाव के आकाररूप शुद्धचेतनापरिणति, वह शुद्धचेतनापद्धति है। उनमें से कर्मपद्धति की ओर उन्मुखता वह संसारपद्धति है और शुद्धचेतना पद्धति की ओर उन्मुखता वह मोक्षमार्ग है।

आगम और अध्यात्म दोनों पद्धतियों में अनंतता कही, उसका अर्थ ऐसा समझना कि आगमरूप कर्मपद्धति में तो जीव का विकार अनन्तप्रकार का है और उसके निमित्तरूप कर्म में भी पुद्‌गल अनन्तानन्त हैं ; इसलिए उस आगमपद्धति में अनन्तता है और अध्यात्मपद्धति शुद्ध जीवद्रव्य के आश्रित हैं, उसमें भी ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्यादि अनन्तगुण होने से उन अनन्त गुणों के अनन्त परिणाम एक समय में हैं, इसलिये अध्यात्मपद्धति में भी अनन्तता हुई। —इसप्रकार दोनों पद्धतियों में अनन्तता समझना।

विभाव की परम्परा अनादि से चली आ रही है, उसे आगमपद्धति कहा है और शुद्धता की परम्परा अनादि से चली आ रही है, उसे अध्यात्मपद्धति कहा है।

जगत में एक ओर कर्म और विकार प्रवाहरूप से अनादि-अनन्त हैं, और दूसरी ओर शुद्धचेतनापद्धति – कारणशुद्धपर्याय अनादि-अनंत हैं।

सर्व जीवों की अपेक्षा से जगत में ये दोनों धारायें अनादि-अनंत चल रही हैं, किन्तु उनका भान करके भेदज्ञान करनेवाले को अपने लिये कर्म और विकार अनादि-सांत हो जाते हैं और केवलज्ञान प्रगट होता है। कारणशुद्धपर्याय तो सर्व जीवों के अनादि-अनन्त है। इधर 'कारण' की ओर उन्मुख होते ही वहाँ निर्मलकार्य प्रगट हो जाता है और आगमपद्धति (कर्म तथा विकार) छूट जाती है। ज्ञानी के भी जितना विकार होता है, उसका आगमपद्धति में समावेश होता है और जो शुद्धता प्रगट हुई, वह मोक्षमार्ग रूप है। आत्मा के सहज शुद्धचेतनापरिणामरूप अध्यात्मपद्धति अनादि-अनन्त है, उसके आश्रय से मोक्षमार्ग तथा मोक्षरूपी कार्य प्रगट होता है। इसप्रकार कारणशक्ति के मनन से कार्य प्रगट हो जाता है।

समस्त संसारी जीवों के अनादि-अनंत चार प्रकार वर्तते हैं :—

(१) नई-नई विकारी पर्याय प्रतिसमय होती आ रही है। (२) जड़कर्म की अवस्था नई-नई होती आ रही है। — यह दोनों प्रकार आगमपद्धति में आते हैं। (३) द्रव्य के सदृश वर्तमानरूप शुद्ध आत्मपरिणाम अथवा जीवत्व परिणाम। (४) अनन्तगुणों की सदृशरूप शुद्धपरिणति। — यह दोनों प्रकार अध्यात्मपद्धति में आते हैं।

इनमें से शुद्धपरिणामरूप अध्यात्मपद्धति में आत्मा का अधिकार है अर्थात् वह आत्मा का मूलस्वभाव है। यहाँ जो चार प्रकार कहे हैं, उन चारों में 'परिणाम' की बात है। 'जीव और पुद्‌गल' — इन दोनों त्रिकाली द्रव्यों को ज्यों का त्यों रखकर यहाँ परिणाम की परम्परा बताई है। उसमें अध्यात्मपद्धति में जो शुद्धचेतना परिणाम (द्रव्यरूप और भावरूप) कहे हैं, वे परिणाम उत्पाद-व्ययरूप नहीं हैं — विसदृश नहीं हैं; किन्तु सदैव एकरूप सदृशरूप से प्रवर्तमान हैं। सदैव जीवद्रव्य में निमग्न तन्मयरूप शुद्धपरिणति ध्रुवरूप से सदैव जीव के साथ ही वर्तती है — उसकी यह बात है। यह बात मोक्षमार्ग या मोक्षपरिणति की भी नहीं है। हाँ, इतना अवश्य है कि यह

ध्रुवपरिणति शुद्धकारणरूप से वर्तती है, इसके आश्रय से मोक्षमार्ग और मोक्षपर्याय प्रगट हो जाती है। त्रिकाली स्वभाव का वर्तमान परिणमन सदैव एकसमान शुद्धरूप वर्त रहा है, वही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का और मोक्ष का आधार है।

अहो ! जिसने इस बात को स्वीकार किया, वह जीव मोक्षमार्गी हो गया। द्रव्यस्वभाव का वर्तमान परिणमन मेरे लिए पूर्ण कारणरूप से वर्त रहा है—ऐसी जहाँ स्वीकृति हुई, वहाँ अपूर्व सम्यग्दर्शन और मोक्षमार्ग का प्रारम्भ हो जाता है। सर्वज्ञ भगवान के मार्ग के अतिरिक्त वस्तुस्वभाव की ऐसी अलौकिक बात कहीं अन्यत्र तीन काल में नहीं हो सकती और सर्वज्ञ के भक्त के सिवाय (साधक के सिवाय) कोई भी इस बात को यथार्थ मानने में समर्थ नहीं है। इस बात को यथार्थरूप से स्वीकार करनेवाले के वर्तमान वर्तती हुई पूर्ण वस्तु श्रद्धा में आ जाती है, इसलिये वह सम्यग्दृष्टि हो जाता है।

भाई ! यह जैनपरमेश्वर सर्वज्ञदेव के मार्ग का रहस्य है, प्रत्येक आत्मा ऐसे परिणामवाला है और जगत में ऐसे अनन्त आत्मा हैं। इस बात की यथार्थ समझ सर्वज्ञ होने का मार्ग है। अहो ! कविवर पं. बनारसीदासजी ने इस 'परमार्थ वचनिका' में आगम-अध्यात्म का स्वरूप लिखकर अलौकिक बात कही है। जो जीव अंतरंग प्रीतिपूर्वक यह बात सुनेगा, समझेगा, श्रद्धा करेगा, उसका अवश्य ही अपूर्व कल्याण हो जायेगा।

देखो, यह जीवद्रव्य का वर्णन है। यहाँ जीव के द्रव्य-गुण-पर्याय का अद्भुत वर्णन किया गया है। समयसार की दूसरी गाथा में 'जीवो——' शब्द है, उसकी टीका में अमृतचन्द्राचार्यदेव ने सात बोलों द्वारा अलौकिक रीति से जीव के स्वरूप का वर्णन किया है। उसीप्रकार यहाँ भी इस गाथा में 'जीवा——.' शब्द है, उसकी टीका में मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव ने जीव का दूसरे ही ढंग से अलौकिक वर्णन किया है। यह सूक्ष्म बात है, क्योंकि

अतीन्द्रिय स्वभावी आत्मा स्वयं ही सूक्ष्म है, इसलिये उसे समझने में भी सूक्ष्मता की आवश्यकता होती है ; समझ में नहीं आये – ऐसी बात नहीं है, क्योंकि उसे समझने की सामर्थ्य आत्मा में विद्यमान है ।

पुण्य-पाप के भाव स्थूल हैं, वे स्थूलभाव तो जीव अनादिकाल से करता ही आया है, उनमें कहीं हित नहीं है। पुण्य-पाप से पार अतीन्द्रिय आत्मस्वभाव को समझना वह अपूर्व है और उसी में आत्मा का हित है । भाई ! यह तेरे स्वरूप की ही बात है ; स्वयं को समझने की आकांक्षा हो और अपना स्वरूप समझ में न आये, यह कैसे हो सकता है ? जिसे आत्मा की सच्ची लगन होती है, उसे अवश्य ही अपने आत्मा का स्वरूप समझ में आ जाता है । अभी तक आत्मा को जानने की सच्ची लगन नहीं लगी, इसीलिये वह कठिन मालूम होता है । मुनिराज तो कहते हैं कि यह बात भव्यजीवों के कान में अमृत डालनेवाली है ; इसे समझ ले तो आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्दरूपी अमृत का अनुभव हो ।

नियमसार की ९वीं गाथा में छह द्रव्यों का कथन है ; उनमें से जीव का वर्णन करते हुए टीकाकार कहते हैं कि–

(१) शुद्धसद्भूतव्यवहारनय से केवलज्ञानादि शुद्ध गुणों का आधार होने के कारण 'कार्यशुद्धजीव' है ।

(२) अशुद्धसद्भूतव्यवहारनय से मतिज्ञानादि विभाव गुणों का आधार होने के कारण 'अशुद्धजीव' है ।

(३) शुद्धनिश्चयनय से सहजज्ञानादि परमस्वभावगुणों का आधार होने के कारण 'कारणशुद्धजीव' है ।

यहाँ, पहले बोल में 'केवलज्ञानादिशुद्धगुण' कहने से पर्यायें समझना ।

उसीप्रकार दूसरे बोल में 'मतिज्ञानादिविभावगुण' को भी पर्यायें जानना ।

और तीसरे बोल में भी 'सहजज्ञानादि परमस्वभावगुण' कहा, उसमें भी

पर्याय की ही ध्वनि मालूम होती है। 'सहजज्ञानादि परमस्वभावगुण' कहने से सहजज्ञानादि परमस्वभावपर्याय अर्थात् 'कारणशुद्धपर्याय' ऐसी ध्वनि है। कारणशुद्धपर्याय का आधार होने से आत्मा 'कारणशुद्धजीव' है।

इसप्रकार तीनों बोलों में 'गुण' कहने का तात्पर्य 'पर्याय' से है। पर्याय को कभी-कभी 'गुण' शब्द से भी सम्बोधित किया जाता है; जैसे कि सिद्धदशा में सम्यक्त्वादि आठ शुद्ध पर्यायें प्रगट होने पर भी उन्हें आठ गुण कहा जाता है; तदनुसार पर्याय को 'गुण' कहने की शैली भी जिनागम में प्रसिद्ध है, जो यहाँ टीकाकार ने भी अपनाई है।

अगली १० से १५ तक की गाथाओं में कारणशुद्धपर्याय की जिस बात का स्पष्टरूप से वर्णन करेंगे, उसका संकेत यहाँ कर दिया है। टीकाकार की सामान्य शैली ऐसी है कि 'अर्थपर्याय' के लिए 'गुण' शब्द का उपयोग करते हैं और 'व्यंजनपर्याय' के लिए 'पर्याय' शब्द का। यहाँ जीव के गुण-पर्यायों का वर्णन करते हैं, उसमें भी इसी शैली का उपयोग किया गया है।

जीव चेतन है; जीव के गुण चेतन हैं। जीव अमूर्त है; जीव के गुण भी अमूर्त हैं। —इतनी बात तो गुणों की है। अब पर्याय की बात करते हैं।

'यह शुद्ध है; इसके गुण शुद्ध हैं। यह अशुद्ध है इसके गुण अशुद्ध हैं।' —इसमें 'गुण' कहने का तात्पर्य 'अर्थपर्याय' से है। शुद्ध गुण कहने से शुद्ध-अर्थपर्यायें और अशुद्ध गुण कहने से अशुद्ध-अर्थपर्यायें समझना चाहिए, —गुण कहीं अशुद्ध नहीं होते। शुद्धजीव की अर्थपर्यायें शुद्ध हैं और अशुद्ध जीव की अर्थपर्यायें अशुद्ध हैं। केवलज्ञानादि शुद्ध गुणों के आधारभूत जीव को कार्यशुद्धजीव कहा है; उस शुद्धजीव की केवलज्ञानादि अर्थपर्यायें शुद्ध हैं और मतिज्ञानादि विभावगुणों के आधारभूत जीव को अशुद्धजीव कहा है, उस अशुद्धजीव की अर्थपर्यायें अशुद्ध हैं।

इसप्रकार यहाँ शुद्ध या अशुद्ध गुण कहने से शुद्ध या अशुद्ध पर्यायें समझना चाहिये।

अब कहते हैं कि 'पर्याय भी है।' यहाँ पर्याय कहने का तात्पर्य व्यंजनपर्याय से है। जिसप्रकार अर्थपर्यायें शुद्ध और अशुद्ध दो प्रकार की हैं, उसीप्रकार व्यंजनपर्यायें भी शुद्ध और अशुद्ध दो प्रकार की हैं। उनमें से जिस जीव को जो प्रकार योग्य हो, उसे वह समझ लेना चाहिए। यहाँ 'व्यंजनपर्याय है' – इतनी सामान्य बात ली, किन्तु ऐसा नहीं कहा कि 'शुद्धजीव को शुद्ध व्यंजनपर्याय है'; क्योंकि अरिहंत भगवान कार्यशुद्धजीव हैं, उनके शुद्ध अर्थपर्याय होने पर भी व्यंजनपर्याय शुद्ध नहीं है, इसलिये शुद्धजीव को शुद्ध व्यंजनपर्याय हो ही– यह बात लागू नहीं होती। यहाँ पर्याय कहने से व्यंजनपर्याय की अपेक्षा है, इसलिये 'शुद्धजीव की पर्याय शुद्ध है' – ऐसा न लेकर 'पर्याय भी है' – ऐसा सामान्य कथन लिया है। सिद्ध भगवंतों के शुद्ध व्यंजनपर्यायें हैं, और संसारी जीवो के अशुद्ध व्यंजनपर्यायें हैं – इसप्रकार जो योग्य हो, वह पर्याय समझना चाहिए। सिद्धभगवन्तों के अर्थपर्याय शुद्ध हैं और व्यंजनपर्याय भी शुद्ध है; अरहन्त भगवन्तों के अर्थपर्याय (केवलज्ञानादि) शुद्ध है और व्यंजनपर्याय अशुद्ध है।

यहाँ मुख्य तो यह बतलाना है कि जैसे 'शुद्ध गुण' और 'अशुद्ध गुण' कहने से टीकाकार मुनिराज का तात्पर्य शुद्ध अर्थपर्यायें और अशुद्ध अर्थपर्यायें बतलाने का है, उसीप्रकार 'सहजज्ञानादि परमस्वभावगुण' – ऐसा कहने में भी कारणशुद्धपर्याय बतलाने का तात्पर्य है। –यह जानना चाहिए।

अहो ! मुनिराज ने टीका में गम्भीर रहस्य भरे हैं; "णाणागुणपज्जएहिं संजुत्ता" अर्थात् द्रव्य विध-विध गुण-पर्यायों से संयुक्त है – ऐसा मूल सूत्र में कहा है; उसमें से अद्‌भुत टीका की है। सहजस्वभावगुण अर्थात् सहजस्वभावरूप कारणशुद्धपर्याय का सदैव आधार होने से आत्मा 'कारणशुद्धजीव' है; उसी को कारणपरमात्मा भी कहा जाता है।

इस कारण शुद्धजीव की भावना से कार्यशुद्ध जीव होते हैं, भावना अर्थात् एकाग्रता अथवा आश्रय ; कारणपरमात्मा का आश्रय करने से केवलज्ञानरूपी परमात्मदशा प्रगट हो जाती है और वही कार्यपरमात्मा है ।

श्रद्धापर्याय से कारणपरमात्मा का आश्रय करके, उसमें एकाग्रता करने से सम्यग्दर्शन हुआ; ज्ञानपर्याय से अन्तर्मुख होकर कारणपरमात्मा का आश्रय करने पर सम्यग्ज्ञान हुआ ; चारित्रपर्याय से कारणपरमात्मा की भावना करके, उसमें एकाग्र होने पर सम्यक्चारित्र हुआ और तीनों मिलकर मोक्षमार्ग तथा तीनों का फल मोक्ष है । इसप्रकार कारणपरमात्मा की ही भावना से कार्यपरमात्मा होते हैं; अन्य कोई उसका कारण नहीं है ।

त्रिकाली शक्ति की अपेक्षा से सर्व जीव सिद्धसमान शुद्ध परमात्मा हैं, इसलिये सभी जीव कारणपरमात्मा हैं । परमात्मा होने का कारण शक्तिरूप से सर्वजीवों में विद्यमान है; उस कारण का भान करके उसके अवलम्बन से जो जीव शुद्ध परमात्मदशा प्रगट करता है, उसे कार्यपरमात्मा कहा जाता है ।

तीसरी गाथा में मोक्षमार्ग की - कार्यनियम की बात थी, इसलिये वहाँ मोक्षमार्ग के कारणरूप से 'कारणनियम' के वर्णन में शुद्ध ज्ञानचेतनापरिणाम लिया था । यहाँ परिपूर्ण शुद्धपर्याय की (कार्यशुद्ध जीव की) बात है, इसलिए उसके कारणरूप से 'कारणशुद्ध जीव' लिया है। सातवीं गाथा में कार्यपरमात्मा की बात थी, वहाँ भी उसके आधाररूप से कारणपरमात्मा की बात ली थी । तीसरी गाथा में मोक्षमार्ग के कारण का वर्णन था और यहाँ मोक्ष के कारण का वर्णन है । एक में गुण के शुद्ध परिणाम (कारणशुद्धपर्याय) की बात ली है और दूसरे में समुच्चयरूप से परिपूर्ण द्रव्य के कारणशुद्धपरिणाम की बात ली है; किन्तु है तो सब अभेद ही ।

निर्मलपर्याय प्रगट होने में कहीं द्रव्य-गुण और कारणशुद्धपर्याय - इन तीनों का पृथक्-पृथक् अवलम्बन नहीं है; एकाकार अभेद द्रव्य के अवलम्बन में तीनों का समावेश हो जाता है ।

सर्वज्ञ ॰ गवान ने केवलज्ञान में विविध पर्यायों से युक्त छह प्रकार के द्रव्य देखे हैं उनमें से जीव के विविध गुण-पर्यायों को बतलाकर उसका स्वरूप सम ाया है । जो भव्यात्मा ! जीव का ऐसा स्वरूप पहिचान लेता है, उसे ॱ .पने कारणपरमात्मस्वभाव के आश्रय से सम्यग्दर्शनादि हुए बिना नहीं रहते ।

जीव के अतिरिक्त अन्य पांच अजीव द्रव्य हैं, वे भी अपने-अपने विविध गुण-पर्यायों से युक्त हैं ।

पुद्‌गलद्रव्य पूरन-गलन स्वभाववाला है अर्थात् पुद्‌गलों का एकत्रित होना और पृथक् होना स्वभाव है और वे पुद्‌गल श्वेतादि वर्णों के आधारभूत हैं ।

पुद्‌गलद्रव्य मूर्त है, उसके गुण मूर्त हैं ; वह अचेतन है और उसके गुण भी अचेतन हैं । ।

देखो, यहाँ पुद्‌गल के वर्णन में भी पर्याय का गुणरूप में कथन किया है । जिसप्रकार जीव के वर्णन में मतिज्ञानादि पर्यायों को विभावगुण तथा केवलाज्ञानादि पर्यायों को शुद्धगुण कहा है, उसीप्रकार इस पुद्‌गल के वर्णन में भी 'वर्णादि गुणों के आधारभूत मूर्त है' - ऐसा कहकर पर्याय की बात ली है । श्वेतता आदि गुण नहीं हैं, किन्तु वर्णगुण की पर्यायें हैं । इसप्रकार पुद्‌गल को पर्याय के आधारभूत मूर्त कहा ।

जीवद्रव्य के वर्णन में भी 'स्वभाव गुणो के आधारभूत' का अर्थ स्वाभाविक कारणशुद्धपरिणति के आधारभूत किया था । इसप्रकार स्वभाव में या विभाव में अर्थपर्याय को गुण कहने की टीकाकार की शैली चली आ रही है । टीकाकार मुनिराज महा समर्थ वीतरागी संत थे, उन्होंने आत्मानुभव की गहराई से यह भाव निकाले थे; टीकाकार के हृदय के मूल आशय को हमें अच्छी तरह समझना चाहिये ।

जीव और पुद्‌गल के गुण-पर्यायों की बात कही, अब शेष चार द्रव्यों वी बात करते हैं ।

स्वभावगति क्रियारूप या विभावगति क्रियारूप परिणत जीव-पुद्‌गलों

को स्वभावगति या विभावगति का निमित्त वह धर्मद्रव्य है; उसीप्रकार स्वभावस्थिति क्रियारूप या विभावस्थिति क्रियारूप परिणत जीव-पुद्गलों को स्थिति का निमित्त वह अधर्मद्रव्य है । पाँच द्रव्यों को अवकाश देने का जिसका लक्षण है, वह आकाशद्रव्य है । और पाँच द्रव्यों को प्रवर्तन का निमित्त वह कालद्रव्य है ।

यहाँ धर्मद्रव्यादि के वर्णन में जो निमित्तपना बतलाया है, उसमें भी पर्याय की बात है; क्योंकि निमित्तपना पर्याय में वर्तता है । गति आदि क्रियाओं में धर्मास्तिकायादि त्रिकाली द्रव्य निमित्त नहीं हैं, किन्तु उनकी उस-उस समय की पर्याय निमित्तरूप है और वह अर्थपर्याय है ।

इन चारों अमूर्त द्रव्यों के गुण शुद्ध हैं और उनकी पर्यायें भी शुद्ध हैं; यहाँ पर्याय कहने से व्यंजनपर्याय समझना ।

इसप्रकार टीकाकार की शैली देखते हुए जीव को 'सहजज्ञानादि परमस्वभावगुणों का आधार' कहने में कारणशुद्धपर्याय की ही ध्वनि उठती है । कारणशुद्धजीव में, धर्मास्तिकायादि चार द्रव्यों की भाँति, सहजशुद्धपरिणति त्रिकाल पारिणामिकभावरूप से परिणमित हो रही है, उसका इस नियमसार में स्पष्टतया 'कारणशुद्धपर्याय' रूप से वर्णन किया है। अब अगली (१० से १५ तक) गाथाओं मे यह बात अत्यन्त स्पष्टरूप से आयेगी ।

जीवादि छह द्रव्यों के गुण-पर्यायों का वर्णन करके उस पर कलश चढ़ाते हुए टीकाकार कहते हैं कि यह छह द्रव्यों के समूहरूपी रत्न किरण युक्त अपनी-अपनी पर्यायों द्वारा शोभायमान हैं । यह छह द्रव्यों के समूहरूपी रत्न जिनेन्द्रदेव के मार्गरूपी समुद्र के बीच विद्यमान हैं । जिनप्रणीत मार्ग को यहाँ समुद्र की उपमा दी है; जिनेन्द्रदेव का मार्ग समुद्र की भाँति गम्भीर और गहरा है; उसी में छह द्रव्य के गुण-पर्यायों का यथार्थ वर्णन है - अन्यत्र कहीं भी इनका यथार्थ वर्णन नहीं है ।

जो तीक्ष्णबुद्धिवाला पुरुष इस रत्न को हृदय में धारण करता है, वह मुक्तिसुन्दरी का नाथ होता है । तीक्ष्णबुद्धि द्वारा अर्थात् स्वभाव के अतीन्द्रिय ज्ञान द्वारा ही इन छहों द्रव्यों के गुण-पर्याय ज्ञात होते है और इसी में आत्मा की शोभा है । - ऐसी तीक्ष्णबुद्धि द्वारा जो जीव छह द्रव्यों के गुण-पर्यायों को यथार्थरूप से जानता है, वह अपने त्रिकाल शुद्ध द्रव्यपर्यायरूप कारणपरमात्मा में एकाग्र होकर मुक्ति प्राप्त करता है ।

इसप्रकार सर्वज्ञदेव ने छह द्रव्य कहे हैं - यहाँ उनकी बात की और उन्हें जानने का फल बतलाया । यह जीव अधिकार है, इसलिये अगली गाथाओं में जीव के उपयोगादि की अद्भुतता और अलौकिकता का वर्णन करेंगे ।

अहो ! वन में वास करनेवाले और आत्मानन्द में लीन रहनेवाले मुनिराज के श्रीमुख से परमागमरूपी अमृत की वर्षा हुई, उसमें आया कि हे भाई ! तेरे धर्म का ध्रुव कारण तो तुझ में सदैव विद्यमान ही है; किन्तु तू उसे कारण नहीं बनाता, अतः दुखी होता है । 'यह मेरे कार्य का कारण है' — ऐसा भान होने से कारण का कारणपना सफल होता है ।

अन्तर्मुख होकर अपूर्व कार्य प्रगट किया, तब कारण का पता चला और ज्ञात हुआ कि अहो ! यह कारण तो मुझ में पहले से ही था ; किन्तु मुझे इसका भान नहीं होने से अभी तक कार्य प्रकट नहीं हुआ था । अब कारण की महिमा ज्ञात होने पर कारण का भान होने से कार्य प्रगट हुआ और कारण के साथ कार्य की अपूर्व संधि हुई । अहो ! मुनिवरों ने कारण और कार्य को साथ ही साथ रखकर अद्भुत अमृत बहाया है ।

इसे समझकर जो जीव अन्तर्मुख होकर निजस्वभाव में गहराई तक उतर जाता है, उसके मोक्षदशा विकसित हो जाती है ; वह सादि अनन्तकाल तक मंगलमय हो जाता है ।

अब नियमसार की १०वीं गाथा प्रारम्भ होती है। इस गाथा में ज्ञान की कारणशुद्धपर्याय का स्पष्ट वर्णन है। पूर्ण आत्मा की कारणशुद्धपर्याय का वर्णन तो अभी पंद्रहवीं गाथा में आयेगा। इस गाथा में जीव का लक्षण जो उपयोग है, उसके भेदों का वर्णन करते हुए स्वभावज्ञान-उपयोग को कारण और कार्यरूप से बतलाकर अति सरस बात कही है। मूल गाथा इसप्रकार है :—

जीवो उवओगमओ उवओगो णाणदंसणो होइ।
णाणुवओगो दुविहो सहावणाणं विभावणाणं त्ति॥ १०॥

जीव उपयोगमय है। उपयोग दो प्रकार का है, ज्ञान-उपयोग और दर्शन-उपयोग। ज्ञानोपयोग भी दो प्रकार का है; स्वभावज्ञान-उपयोग और विभावज्ञान-उपयोग।

जीव उपयोगमय है। 'उपयोग' कहने से यहाँ 'परिणाम' समझना चाहिए। उपयोग के जितने प्रकार यहाँ कहेंगे, वे सब प्रकार पर्यायरूप हैं — यह बात लक्ष्य में रखना चाहिए।

यहाँ पहले तो उपयोग का अर्थ कहते हैं; फिर उसके भेद समझायेंगे।

'आत्मा का चैतन्य-अनुवर्ती परिणाम, वह उपयोग है।'

देखो, यह उपयोग की व्याख्या। आत्मा का जो त्रिकाल चैतन्यस्वभाव, उसका अनुसरण करके वर्तनेवाला परिणाम, वह उपयोग है। इसमें द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों आ गये।

'आत्मा' वह द्रव्य, 'चैतन्य' वह गुण, 'अनुवर्ती परिणाम' वह पर्याय।

आत्मा द्रव्य है और चैतन्य उसका त्रिकालीगुण है; उस चैतन्य का अनुसरण करके वर्तनेवाले परिणाम को उपयोग कहते हैं। उपयोग किसी पर का, इन्द्रियों का या राग का अनुसरण करके नहीं होता; किन्तु चैतन्य का ही अनुसरण करके होता है — ऐसा कहकर त्रिकाली स्वभाव की ओर सन्मुखता कराई है।

'उपयोग धर्म है, जीव धर्मी है ; दीपक और प्रकाश की भाँति उनका सम्बन्ध है।'

देखो, आत्मा चैतन्य दीपक है और उपयोग उसका प्रकाश है। रागादिभाव तो अंधकार जैसे हैं। जिसप्रकार प्रकाश में अंधकार नहीं है, उसीप्रकार उपयोग में राग-द्वेष नहीं हैं। राग-द्वेष वह आत्मा का स्वभाव नहीं हैं, स्वाभाविक ज्ञानोपयोग ही आत्मा का स्वभाव है ; — ऐसा भेदज्ञान करना वह मुक्ति का कारण है। 'उपयोग' वह जीव की पर्याय है, इसलिये वह धर्म है ; और जीव उस पर्याय को धारण करनेवाला है, इसलिये वह धर्मी है। उपयोग के जितने प्रकार हैं, वे किसी दूसरे के धर्म नहीं हैं ; किन्तु जीव के ही धर्म हैं। मतिज्ञानोपयोग हो या त्रिकाल शुद्धोपयोग हो — दोनों जीव के धर्म हैं और जीव धर्मी है।

जिसप्रकार दीपक स्वभाव से ही प्रकाशमान है ; उसका स्वभाव पर के कारण नहीं है ; उसीप्रकार आत्मा चैतन्य दीपक है और उपयोग उसका प्रकाश है। आत्मा स्वभाव से ही उपयोगस्वरूप है, किसी पर के कारण उसका उपयोग नहीं है। मति-श्रुतज्ञान-उपयोग भी इन्द्रियों या मन के कारण नहीं होता, वह उपयोग भी जीव का धर्म है।

चैतन्य का उपयोग कहने से उसमें ज्ञान और दर्शन दोनों का व्यापार आ जाता है। उपयोग ज्ञान और दर्शन दो प्रकार का है। ज्ञान का अनुसरण करके वर्तनेवाले परिणाम को ज्ञानोपयोग कहते हैं और दर्शन का अनुसरण करके वर्तनेवाले परिणाम को दर्शनोपयोग कहते हैं, उसमें भी ज्ञानोपयोग के नौ प्रकार (एक कारणरूप और आठ कार्यरूप) हैं तथा दर्शनोपयोग के पाँच प्रकार (एक कारणरूप और चार कार्यरूप) हैं। इसप्रकार उपयोग के कुल मिलाकर चौदह भेद हैं। इन सर्वप्रकार के उपयोगधर्मों का आधार जीव है। पहले जिसप्रकार श्वेतादि गुणों का (पर्यायों का) आधार पुद्‌गल कहा था ; उसीप्रकार यहाँ उपयोग परिणाम का आधार जीव है।

'ज्ञान और दर्शन के भेद से उपयोग दो प्रकार का है, इनमें ज्ञानोपयोग भी स्वभाव और विभाव के भेद से दो प्रकार का है। उनमें स्वभावज्ञान, अमूर्त, अव्याबाध, अतीन्द्रिय और अविनाशी है, वह भी कार्य और कारण के रूप से दो का प्रकार है।'

यह गुण की बात कही है, किन्तु उसके परिणामों की बात है। स्वभाव-ज्ञानोपयोग परिणाम और विभाव-ज्ञानोपयोग परिणाम — ऐसे दो प्रकार का ज्ञानोपयोग है।

यहाँ पहले स्वभाव-ज्ञानोपयोग का वर्णन करते हैं।

स्वभाव-ज्ञानोपयोग अमूर्त है, अव्याबाध है, अतीन्द्रिय है, अविनाशी है। स्वभाव-ज्ञानोपयोग की यह व्याख्या कारण और कार्य दोनों पर लागू होती है।

चैतन्यस्वभाव का अनुसरण करके वर्तने वाला स्वभाव-ज्ञानोपयोगरूप परिणाम कारण और कार्य — ऐसे दो भेदवाला है।

(१) कारणस्वभाव-ज्ञानोपयोग परिणाम।

(२) कार्यस्वभाव-ज्ञानोपयोग परिणाम।

कार्यस्वभाव-ज्ञानोपयोग तो परिपूर्ण निर्मल ऐसा केवलज्ञान है और उस केवलज्ञान का कारणरूप परमपारिणमिक सहज ज्ञान है, वह कारण स्वभाव-ज्ञानोपयोग है। यह दोनों प्रकार के उपयोग अमूर्त, अव्याबाध, अतीन्द्रिय और अविनाशी है। उनमें से कारणस्वभाव-ज्ञानोपयोग तो सदैव अनादि-अनंत, अमूर्त, अव्याबाध, अतीन्द्रिय और अविनाशी स्वभाववाला है, और कार्यस्वभाव ज्ञानोपयोग भी प्रगट होने के पश्चात् वैसे ही स्वभाववाला है। कारणरूप स्वभाव-ज्ञानोपयोग तो सदैव परमपारिणामिक भाव में स्थित है, वह नवीन नहीं होता। उसमें से केवलज्ञान नया प्रगट होता है, उसे कार्य-स्वभाव ज्ञानोपयोग कहते हैं। यह कारणरूप या कार्यरूप जितने

उपयोग कहे जा रहे हैं, वे सब परिणामरूप हैं ; क्योंकि चैतन्य का अनुसरण करके वर्तता हुआ परिणाम ही उपयोग है और यह उसके प्रकारों का वर्णन हो रहा है। कारणस्वभाव ज्ञानोपयोग इस समय भी सर्व जीवों में वर्त रहा है ; उसकी बात मुख्यतया समझने योग्य है।

आत्मा के चैतन्य स्वभाव का अनुसरण करके वर्तता हुआ स्वभाव-ज्ञानोपयोग परिणाम, एक कारण-स्वभावरूप है और दूसरा कार्य-स्वभावरूप। उनमें कारण-स्वभावरूप ज्ञानोपयोग अनादि-अनंत है और कार्य-स्वभावरूप ज्ञानोपयोग सादि-अनंत है।

प्रश्न :– कारण-स्वभावज्ञान को 'परमपारिणामिकभाव में स्थित' कहा — इसका क्या अर्थ है ?

उत्तर :– परमपारिणामिकभाव तो त्रिकालीद्रव्य है और यह कारण-स्वभाव-ज्ञानोपयोग उस परमपारिणामिकभाव में स्थित है। 'परमपारिणामिकभाव' है, वह द्रव्य है और 'उसमें स्थित' वह पर्याय है।

प्रश्न :– उसमें कौन-सी पर्याय स्थित है ?

उत्तर :– उसमें उत्पाद-व्ययरूप पर्याय नहीं, संसार-मोक्षरूप पर्याय नहीं ; किन्तु त्रिकाली स्वभाव में स्थितरूप-शक्तिपर्याय विद्यमान है ; वह निरपेक्ष है, कर्मोपाधि से रहित है, सादृश परिणमनरूप है, सामान्य पारिणामिकभाव की विशेष परिणतिरूप है, वर्तमान में वर्तती है, आश्रय करने योग्य महिमावंत है, वर्तमान ध्रुवकारणरूप है तथा उस ध्रुवकारण के आश्रय से पूर्ण कार्य प्रगट होता है और बाद में भी ध्रुवकारण के आधार से ही पूर्ण कार्य टिकता है। अहो ! ऐसा सदृशरूप ध्रुवकारण, आत्मा में परिपूर्ण स्वरूप से वर्तमान एकरूप वर्तता है। इस कारण के पकड़ने से — आश्रय करने से निर्मलकार्य प्रगट हो जाता है।

केवलज्ञानरूप कार्य तो जब प्रगट हो तब वर्तमान है, किन्तु केवलज्ञान प्रगट होने से पूर्व उसके स्वभाव-कारणस्वरूप यह सहज स्वाभाविक

ज्ञानोपयोग परमपारिणामिकभाव में स्थितरूप सदैव वर्तमान-वर्तमान वर्त रहा है। केवलज्ञानरूपी कार्य तो पुरुषार्थ से नया प्रगट होता है और यह कारणस्वभावज्ञानोपयोग तो आत्मा के साथ अनादि-अनंत प्रवर्तमान है, वह नया प्रगट नहीं होता।

समयसार की दूसरी गाथा में 'जीव चरित-दर्शन-ज्ञान स्थित.......' — ऐसा कहा है, उसमें तो दर्शन-ज्ञान-चारित्र की जो नई पर्याय प्रगट हुई है, उसकी (अर्थात् मोक्षमार्ग की) बात है; परन्तु यहाँ 'परमपारिणामिक भाव में स्थित' कहा है, यह त्रिकाली उपयोगपरिणति की बात है; तथापि यह भी है तो परिणाम ही। जो चैतन्य अनुविधायी परिणाम को उपयोग कहा है, वह व्याख्या इसमें भी लागू होती है। यह उपयोग तीनों काल आत्मा के चैतन्यस्वभाव का अनुसरण करके वर्तता है, इसलिए परिणति कहा है; परन्तु उसका वेदन नहीं है, वेदन तो उसके आश्रय से जो नई पर्याय प्रगट होती है उसका ही होता है।

यहाँ 'उपयोग' की ही बात की, दूसरे गुणों की बात नहीं की; किन्तु उनमें भी (सुख - श्रद्धा आदि गुणों में भी) इसी के अनुसार समझ लेना। कारणशुद्धपरिणति की बात उपयोग की भाँति जीव के समस्त गुणों में लागू होती है।

देखो भाई ! यह बात बहुत सूक्ष्म है, किन्तु एकदम अन्तर्स्वभाव की है। जल्दी समझ में न आये, तो भी अंतर में महिमा लाकर ध्यानपूर्वक सुनना चाहिए। आत्मा की महिमा की बात कही जा रही है - ऐसा अंतर से बहुमान करना भी ज्ञान की निर्मलता का कारण है।

मूलसूत्र में आचार्य भगवान ने ज्ञानोपयोग को स्वभावज्ञान और विभावज्ञान ऐसे दो प्रकार का कहा है, उसमें से टीकाकार ने अद्भुत भाव प्रकट किये हैं। स्वभावज्ञानोपयोग कहा; उसमें से कारण और कार्य — ऐसे दो प्रकार निकाले हैं। यहाँ अब स्वभावज्ञान और विभावज्ञान के भेद बतलाते

हैं, उनमें प्रत्यक्ष और परोक्ष की बात फिर कहेंगे। यहाँ जिसे कारण स्वभावज्ञानोपयोग कहा है, उसी का आगे ग्याहरवीं-बारहवीं गाथा में 'स्वरूपप्रत्यक्ष सहजज्ञान' रूप से वर्णन करेंगे। वहाँ केवलज्ञान को सकल प्रत्यक्ष और सहजज्ञान को स्वरूपप्रत्यक्ष कहेंगे।

आत्मा के चैतन्यभाव का अनुसरण करके प्रवर्तन करने वाला जो सकल विमल केवलज्ञान परिणाम है, वह कार्य स्वभावज्ञानोपयोग है । उस स्वभावकार्य के कारणरूप जो उपयोग है, वह कारण स्वभावज्ञानोपयोग है; वह भी आत्मा के चैतन्यस्वभाव का अनुसरण करके वर्तने वाला सहज परिणाम है ।

कारणस्वभावज्ञान परमपारिणामिकभाव में स्थित है और कार्यस्वभावज्ञान अर्थात् केवलज्ञान क्षायिकभाव में स्थित है ।

तेरहवें गुणस्थान में परिपूर्ण निर्मल केवलज्ञान प्रगट होता है, वह कार्य है; उस कार्य का कारण कौन है ? कार्य कहाँ से प्रगट हुआ है ? तथा किस के अवलम्बन से प्रगट हुआ है ? – यह बात यहाँ बतलाते हैं ।

कोई परद्रव्य आत्मा के केवलज्ञानरूपी कार्य का कारण नहीं हैं; उत्तम संहनन वाला शरीर आदि निमित्तों में से केवलज्ञान नहीं आता। शुभ-अशुभ विकारीभाव भी केवलज्ञान का कारण नहीं है । शुभ-अशुभ भाव तो केवलज्ञान के बाधक हैं, उसमें से केवलज्ञान कैसे प्रगट हो सकता है ? साधकदशा में मति-श्रुतादि ज्ञान होते हैं, उन्हें व्यवहार से केवलज्ञान का कारण कहा जाता है; किन्तु वास्तव में उस अधूरे ज्ञान में से केवलज्ञान प्रगट नहीं होता; इसलिये वह भी वास्तव में केवलज्ञान का कारण नहीं है, उसके आश्रय से केवलज्ञान नहीं होता । अपूर्णपर्याय में से पूर्णपर्याय कैसे प्रगट हो सकती है ? केवलज्ञान पूर्ण कार्य है, इसलिये उसका कारण भी पूर्ण ही होता है - यही यहाँ बतला रहे हैं ।

चैतन्य के परमपारिणामिकभाव में जो सदैव स्थित है, जो त्रिकाल

निरुपाधिक है, सदैव परिपूर्ण है- ऐसा कारणस्वभावज्ञान ही केवलज्ञान का कारण है ; उस कारण के अवलम्बन से ही पूर्ण कार्य प्रगट होता है । इस कारण का स्वीकार (श्रद्धा, आश्रय) करते ही साधकदशा प्रारंभ हो जाती है और इसी के आश्रय से अल्पकाल में पूर्णकार्य प्रगट हो जाता है ।

पूर्ण कार्य अर्थात् कार्यस्वभावज्ञान प्रगट होने पर विभावज्ञान का अभाव हो जाता है, किन्तु कारणस्वभावज्ञान का अभाव नहीं होता । विभावज्ञान वाले जीव को भी कारण स्वभावज्ञान तो त्रिकाल विद्यमान है; किन्तु अज्ञानी को उसका भान नहीं है । ज्ञानी को साधकदशा में कारणस्वभावज्ञान का भान है, तथापि अभी अमुक विभावज्ञान भी है । विभावज्ञान और कारणस्वभावज्ञान — दोनों एकसाथ होते हैं, किन्तु विभावज्ञान और कार्यस्वभावज्ञान ये दोनों एक साथ नहीं होते। कारणस्वभावज्ञानोपयोग तो सर्व जीवों के त्रिकाल वर्तमान शक्तिरूप वर्त रहा है । एक आत्मा को उपयोग के सर्वप्रकार एक साथ नहीं होते ।

भाई ! तू जीव है और उपयोग तेरा लक्षण है । अपने उपयोग की महिमा तो देख । जीव का लक्षण उपयोग ; उपयोग अर्थात् चैतन्य का अनुसरण करके होने वाला परिणाम ।

कारणस्वभावज्ञान और कारणस्वभावदर्शन - यह दोनों भी ध्रुवचैतन्यस्वभाव का अनुसरण करके वर्तते हुए उपयोग परिणाम हैं ; ये दोनों त्रिकाल एकरूप निरुपाधिक हैं; इनका परिणमन सदैव सदृशरूप है । इनके अतिरिक्त ८ दर्शन एंव ४ ज्ञान - इसप्रकार जो बाहर प्रकार के उपयोग हैं, वे सब उत्पादव्ययरूप हैं । कर्म के क्षयोपशम-क्षय आदि की अपेक्षा वाले हैं । परन्तु उपयोग के चौदहों प्रकार आत्मा के चैतन्य का अनुसरण करके वर्तने वाले हैं । केवलज्ञानोपयोग आत्मा के चैतन्यस्वभाव का ही अनुसरण करके होता है; पूर्व के चार ज्ञान का अनुसरण करके केवलज्ञान नहीं होता । इसीप्रकार मतिज्ञान का उपयोग भी किसी पर का, इन्द्रियों का या राग का अवलम्बन करके नहीं होता; किन्तु आत्मा के चैतन्य का अनुसरण करके ही होता है ।

देखो, यह जीव के उपयोग का वर्णन !

जीव धर्मी है और यह उपयोग उसका धर्म है । यहाँ धर्म अर्थात् स्वभाव । इस समय 'धर्म' का अर्थ सम्यकदर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग नहीं समझना चाहिए; किन्तु जीव ने अपने उपयोग को अपने में धारण कर रखा है, इसलिए उपयोग यह जीव का धर्म है और जीव धर्मी है -- ऐसा समझना चाहिए । जिसप्रकार दीपक अपने प्रकाशधर्म को धारण कर रखता है, उसीप्रकार आत्मा अपने उपयोग धर्म को धारण कर रखता है । आत्मा उपयोग रहित नहीं हो सकता । उपयोग के चौदहों प्रकार एक ही जीव में एक साथ नहीं होते। उनमें से जो कारणस्वभाव ज्ञानोपयोग और कारणस्वभाव दर्शनोपयोग है, वह तो सर्व जीवों के सदैव है, शेष बारह प्रकारों में से कार्यस्वभाव ज्ञानोपयोग और कार्यस्वभाव दर्शनोपयोग तो केवलज्ञानी भगवन्तों के ही होते हैं ; तथा शेष दस प्रकार छद्‌मस्थों के ही होते हैं - ऐसे उपयोगस्वभावी जीवतत्व को पहिचाने बिना सम्यक्‌श्रद्धा नहीं होती । इसलिए जीव को भली-भाँति पहिचानने के लिये उसके भावों को भी जानना चाहिए ।

अरिहंत भगवान कार्य परमात्मा है; उनके केवलज्ञानरूपी कार्य कहाँ से प्रगट हुआ ? तो कहते हैं कि कारणरूप ध्रुवज्ञानस्वभाव में से । इसप्रकार अरिहंत परमात्मा के शुद्ध कारण-कार्य को पहिचाने तो अपने में भी शुद्धकारण के अवलम्बन से शुद्ध कार्य (सम्यक्‌दर्शनादि) हुए बिना न रहें ; क्योंकि भगवान जैसा ही कारण अपने में है । अहो ! मुनिवरों ने कारण-कार्य को एक ही साथ रखकर अद्‌भुत अमृत बहाया है ।

ये तो सच्ची समझ के मंत्र हैं........ ये धर्म के मंत्र हैं । इन्हें समझें, इनकी प्रीतीति हो और अन्तर में उतर जाय तो स्वरूप का परमानन्द प्रगट हो और अनादिकालीन मिथ्यात्व का विष उतर जाये ।

कारणज्ञान - स्वभावज्ञान यह आत्मा के उपयोगलक्षण का एक प्रकार

है; निगोद से लेकर सिद्ध तक के प्रत्येक जीव में कर्म की अपेक्षा रहित एकरूप ज्यों का त्यों यह उपयोग वर्तता है । एक समय में तीनकाल-तीनलोक को प्रत्यक्ष जाननेवाला कार्य जो केवलज्ञान, कारणस्वभावज्ञान उसका कारण है; कारणस्वभाव स्वरूपप्रत्यक्ष उपयोग है, इसमें कभी परोक्षपना नहीं है, अपूर्णता नहीं है । प्रति समय परिपूर्ण ध्रुवकारणरूप स्वरूपप्रत्यक्ष उपयोग, वह जीव का सहजस्वभाव है, वह केवलज्ञान का कारण है – ऐसे कारण की जो प्रतीति करता है, उसे केवलज्ञान की शंका नहीं रहती । यह ऐसी अपूर्व बात है ।

देखो, सिद्धपर्याय जगत में सामान्यरूप से अनादि-अनन्त है, साधक पर्याय भी जगत में अनादि-अनन्त है और संसारपर्याय भी अनादि-अनन्त है; इसीप्रकार कारणशुद्धपर्याय प्रत्येक जीव को सदृशरूप से अनादि-अनन्त है, जीव को कभी उसका विरह नहीं है । सिद्धदशा सामान्यरूप से जगत में अनादि-अनन्त होने पर भी एक जीव की अपेक्षा से वह नई प्रगट होती है ; परन्तु कारणशुद्धपर्याय सिद्धपर्याय की तरह नई प्रगट नहीं होती, उसका भान करने वाले जीव को सम्यग्दर्शनादि कार्य नवीन प्रगट होता है ।

जिसप्रकार सिद्धपर्याय सामान्यरूप से जगत में अनादि-अनन्त है । इससे पहले जगत में सिद्धदशा नहीं थी और अब नई प्रारम्भ हुई हो - ऐसा नहीं है; परन्तु एक जीव की अपेक्षा सिद्धपर्याय नई प्रारम्भ होती है, इसलिए सादि-अनन्त है; किन्तु सिद्धदशा का जगत में नया प्रारम्भ नहीं हुआ है । 'पहले सिद्ध कौन ?' इसका यह उत्तर है कि जगत में सिद्ध अनादि से ही हैं । इसलिये सामान्यतः सिद्धपर्याय जगत में अनादि-अनन्त है ।

जिसप्रकार सिद्धपर्याय जगत में अनादि-अनन्त है, उसीप्रकार उसके साधन रूप मोक्ष मार्ग भी अनादि-अनन्त है । व्यक्ति की अपेक्षा से देखें तो उसके जीवन में मोक्षमार्ग का प्रारम्भ नया होता है और उसका अन्त भी आता है । इसलिए वह सादि-सांत है, किन्तु जगत में तो मोक्षमार्ग की साधना

करने वाले जीव अनादिकाल से होते आ रहे हैं और अनन्तकाल तक होते ही रहेंगे। इसलिए सामान्यरूप से मोक्षमार्ग (साधकपर्याय) जगत में अनादि-अनन्त है, उसका कभी अभाव नहीं है।

इसीप्रकार संसारपर्याय भी सामान्यत: जगत में भी अनादि-अनन्त है। वस्तुस्वरूप का निर्णय करने वाले के उस संसार का अन्त आ जाता है, इसलिए व्यक्तिगतरूप से संसारपर्याय 'अनादि-सांत' है ; किन्तु जगत में तो संसारपर्यायवाले जीव अनादि-अनंत रहने ही वाले हैं।

इसप्रकार मोक्ष, मोक्षमार्ग और संसार - यह तीनों प्रकार की पर्यायें जगत में सामान्यरूप से अनादि-अनंत वर्त रही हैं। यहाँ तो "कारणशुद्धपर्याय" का अनादि-अनंतपना बतलाना है।

जिसप्रकार मोक्ष, मोक्षमार्ग और संसार - यह तीनों विशेष पर्यायें जगत में 'सामान्यरूप से अनादि-अनंत' वर्त रही हैं, उसीप्रकार यह 'कारणशुद्धपर्याय' भी प्रत्येक जीव में अनादि-अनंत वर्तती है। और संसार मोक्षरूप विशेष पर्यायों की अपेक्षा से वह 'सामान्य' है, क्यों कि वह प्रत्येक जीव में सदा अनादि-अनंत सदृशरूप से वर्तती हैं।

* जगत में जीव वस्तु अनादि-अनंत है, उसके चैतन्य गुण अनादि-अनंत हैं।

* सामान्यत: सर्वजीवों की अपेक्षा शुद्ध सिद्धपर्याय अनादि-अनंत है।

* सामान्यत: सर्वजीवों की अपेक्षा साधकपर्याय अनादि-अनंत है।

* सामान्यत: सर्वजीवों की अपेक्षा संसारपर्याय अनादि-अनंत है।

इसीप्रकार यह कारणशुद्धपरिणति प्रत्येक जीव में अनादि-अनंत है। सिद्ध परिणति जगत में अनादि-अनंत है, जबकि कारणशुद्धपरिणति प्रत्येक जीव में अनादि-अनंत है। आत्मा के परमस्वभाव की अपेक्षा वह 'विशेष परिणति' है, किन्तु औदयिकादि चार भावों की अपेक्षा वह सामान्य है।

जिसप्रकार जगत में सिद्ध, साधक और संसार पर्यायें अनादि-अनंत वर्त रही हैं, उसीप्रकार आत्मा में शुद्धद्रव्य, शुद्धगुण तथा शुद्धपरिणति (कारणशुद्धपर्याय)तीनों अभेदरूप से अनादि-अनंत वर्त रहे हैं।

जगत में सिद्धदशारूपी शुद्धकार्य अनादि-अनंत है तो उस शुद्ध कार्य का शुद्ध कारण भी प्रत्येक जीव में अनादि-अनंत है । उस कारण की शुद्धता का भान करने पर उसके आश्रय से साधक दशा और सिद्धदशारूपी निर्मलकार्य प्रगट हो जाता है ।

व्यक्ति अपेक्षा अर्थात् एक मोक्षगामी जीव की अपेक्षा संसारपर्याय अनादि-सांत है, मोक्षमार्गपर्याय सादि-सांत है और मोक्षपर्याय सादि-अनंत हैं - इसप्रकार पर्याय के तीन प्रकार हैं: किन्तु सामान्यरूप से अर्थात् सर्वजीवों की अपेक्षा से तो ये तीनों प्रकार की पर्यायें जगत में अनादि-अनंत हैं। कार्य-पर्याय का इसप्रकार अनादि-अनंतपना है, तो उसके साथ कारणशुद्धपर्याय का भी अनादि-अनंतपना प्रत्येक जीव में हैं - यहाँ यही बतलाना उद्देश्य है।

'कारण' तो सदैव शुद्धरूप से वर्तता है; किन्तु उस कारण का अवलम्बन लेकर जहाँ शुद्धकार्य हुआ, वहाँ खबर पड़ी कि अहो ! मेरा कारण तो यह हैं । कारण का अवलम्बन लेनेवाला जागा अर्थात् कार्य प्रगट हुआ, तब कारण की महिमा का ख्याल आया और उसने कारण के साथ कार्य की अपूर्व संधि की ।

'कारण अपेक्षा से शुद्धता' तो प्रत्येक व्यक्ति को अनादि-अनंत वर्तती है, नाना जीवों की अपेक्षा शुद्धकार्य भी अनादि-अनंत वर्तता हैं; किन्तु प्रत्येक जीव को शुद्धकार्य नया होता है, इसलिये प्रत्येक जीव में वह अनादि-अनंत नहीं हो सकता।

प्रश्न :- यदि कार्य अनादि-अनंत शुद्ध हो तो फिर करना क्या रहा ?

उत्तर :- कारण सदैव शुद्ध है, उसका भान करके उसके आश्रय से शुद्धकार्य (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र) प्रगट करना, वह मोक्षमार्ग है ।

'नियमसार' वह शुद्धपर्याय है, उस पर्याय के समक्ष उसके शुद्धकारणरूप से यहाँ 'कारणशुद्धपर्याय' बतलाना है ।

प्रश्न :- जगत में सर्वप्रथम किस जीव ने मोक्ष प्राप्त किया ?

उत्तर :- मोक्ष अनादि से ही है ।

प्रश्न :- सर्वप्रथम मोक्ष की साधना किसने की ?

उत्तर :- मोक्षमार्ग जगत में अनादि से ही है ।

प्रश्न :- संसार में सबसे पहला भव कौन-सा है ?

उत्तर :- संसार अनादि से ही है ।

जैसे यह तीनों प्रकार सामान्यरूप से अनादि-अनंत है, उसीप्रकार द्रव्यगुण त्रिकाली शक्ति के साथ उसके सदृश वर्तमान रूप कारणशुद्धपरिणति भी अनादि-अनंत सामान्यरूप है । जिसप्रकार उपरोक्त तीन बोल (मोक्ष, मोक्षमार्ग और संसार) सामान्य हैं; उसीप्रकार यहाँ द्रव्य, गुण और उनकी कारणशुद्धपरिणति - यह तीनों अभेदरूप से अनादि-अनंत सामान्य एकरूप हैं । उनमें अन्तर इतना है कि ऊपर के तीन बोल तो जगत में सर्वजीवों में सामान्यरूप से हैं और यह तीन बोल प्रत्येक जीव में सामान्यरूप से अनादि-अनंत हैं ।

संसार, मोक्षमार्ग और मोक्ष यह विशेष पर्यायें हैं । त्रिकाली द्रव्य-गुण वह सामान्य ध्रुव और उसका सदृशरूप वह विशेष ध्रुव; ऐसे द्रव्य-गुण और उनका सदृश वर्तमान ये तीनों अभेदरूप से द्रव्यार्थिकनय के विषय हैं, वे सामान्य हैं । प्रत्येक जीव को अनादि -अनंत पारिणामिक स्वभाव वर्त रहा है । जगत में ऐसा कोई जीव नहीं हैं कि जिसके शुद्ध द्रव्य, गुण और उनकी ध्रुवकारणरूप सदृश परिणति न हो ।

प्रश्न :- केवलज्ञान जगत में कब नहीं है ।

उत्तर :- केवलज्ञान जगत में अनादि-अनंत है और उस केवलज्ञान का कारण प्रत्येक जीव में अनादि-अनंत है, उसका यहाँ कारणस्वभाव ज्ञानोपयोग कहकर वर्णन किया । ज्ञानोपयोग के दो प्रकार कहे हैं - एक स्वभावरूप और दूसरा विभावरूप ।

कुमति आदि एकान्त विभावज्ञान जगत में अनादि-अनंत हैं ।

सम्यक् मतिश्रुतादि ज्ञान भी जगत में अनादि-अनंत है ।

केवलज्ञान वह स्वभावज्ञान है, वह भी अनादि-अनंत है ।

केवलज्ञान का कारणस्वरूप स्वभावज्ञान भी अनादि-अनंत है ।

जिसप्रकार 'परमार्थ वचनिका' में कहा गया है कि विकार की परम्परारूप आगमपद्धति और शुद्धचेतना परिणति की परम्परारूप अध्यात्मपद्धति- ये दोनों धारायें जीव में अनादि से चली आ रही हैं; उनमें से शुद्धता की धारा को (कारणशुद्धपर्याय को) कारणरूप में स्वीकार करने पर मोक्षमार्ग प्रारम्भ हो जाता है और आगमपद्धति छूट जाती है ।

उसीप्रकार यहाँ कहते हैं कि आत्मा में कारणरूप स्वभावज्ञान अनादि से चला आ रहा है और विभावज्ञान भी अनादि से वर्त रहा है । उसमें से स्वभावज्ञान को कारणरूप से स्वीकार करके जब उसका अवलम्बन लिया, तभी केवलज्ञान विकसित हो जाता है और विभावज्ञान छूट जाता है । 'कारणस्वभावज्ञान'कहकर केवलज्ञान का आधार बतलाया है । कारणस्वभावज्ञान सर्वजीवों को अनादि-अनंत है; किन्तु जब उस कारण की ओर अपना उपयोग उन्मुख करके एकाग्र हो, तभी उसका कार्य प्रगट होता है और उसी जीव को कारण की सच्ची महिमा समझ में आती है ।

कारणशुद्धपरिणति कहने से उसमें त्रिकाली गुण और द्रव्य अभेद ही हैं, उन सबका एक साथ ही आलम्बन है । उस अभेद के आलम्बन से ही सम्यग्दर्शन से सिद्ध दशा तक के निर्मलभाव प्रगट होते हैं । 'कारण' तो

त्रिकाल शुद्धरूप से वर्तता ही है, किन्तु उसे कारण बनाने वाला कार्य वर्तमान में नवीन प्रगट होता है ।

'कारण' को कारणरूप से स्वीकार किसने किया ? स्वीकार करने वाला तो कार्य है और वही मोक्षमार्ग है । यह मोक्षमार्ग रूपी कार्य सामान्यरूप से जगत में अनादि-अनन्त होने पर भी व्यक्तिगत रूप से नया होता है । 'कारण' प्रत्येक जीव में अनादि-अनंत है, किन्तु उस कारण को अंगीकार करके कार्य नया होता है; क्यों कि कारण बनाने वाला कार्य नया होता है । कारण को कारणरूप से स्वीकार करने पर शुद्धकार्य है । जहाँ ऐसा अपूर्व कार्य हुआ, वहाँ कारण का भान नया प्रगट हुआ; और खबर पड़ी कि अहो ! मुझमें ऐसा कारण तो पहले भी था, किन्तु मुझे उसका भान नहीं था; इसलिये अभी तक कार्य प्रगट नहीं हुआ ।

देखो, यह बड़ी सरस और मूलभूत बात है, अमृत-समान मीठी बात है । आत्मा में मोक्षमार्गरूपी कार्य कैसे हो - उसकी यह बात है ।

द्रव्य-गुण और कारणशुद्धपरिणति सब अभेद हैं । इस अभेद के साथ अभेदता करने वाला कार्य जागृत हो, तब उसे कारण का ख्याल आता है । ख्याल नहीं था तब भी उसके 'कारण' तो विद्यमान ही था, किन्तु उस समय कारण को कारण बनाने वाला कार्य नहीं था। स्वयं को शुद्धकारण के अस्तित्व की खबर नहीं थी, इसलिये शुद्धकार्य के बदले अशुद्धकार्य होता था । अभेद के आलम्बन से शुद्धकार्य (सम्यग्दर्शनादि) प्रगट किया, वहाँ इस कारण का सच्चा ख्याल आया । सम्यग्दर्शन या केवलज्ञान - सभी शुद्ध कार्यों (पर्यायों) के मूलकारण को यहाँ अलौकिक ढंग से बतलाया है ।

तीसरी गाथा में कार्यनियम और कारणनियम की बात की । सातवीं गाथा में कार्यपरमात्मा के साथ कारणपरमात्मा की बात की । नौवीं गाथा में कार्यशुद्धजीव तथा कारणशुद्धजीव की बात की । दसवीं गाथा में कार्यस्वभावज्ञान और कारणस्वभावज्ञान की बात की । -इसप्रकार कार्य के साथ उसके आधारभूत कारण को भी साथ ही साथ बतलाते जाते हैं ।

पर्याय में जिसके केवलज्ञान हुआ, वह कार्यशुद्धजीव है और वही कार्यपरमात्मा है । उसके पहले साधकदशा में जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप पर्याय है, वह मोक्षमार्गरूप कार्य है; वह नियम से कर्तव्य है अर्थात् कार्यनियम है । मोक्षमार्ग की पर्याय को 'कार्यनियम' कहा, 'कार्यशुद्धजीव' नहीं; क्योंकि कार्यशुद्धजीव अथवा कार्यपरमात्मा तो पूर्ण पर्याय प्रगट हो तभी कहलाता है । लेकिन साधकपर्याय या पूर्णपर्याय - इन दोनों का आधार तो एक ही है । द्रव्य, गुण और कारणशुद्धपरिणति के अभेद पिण्डरूप आत्मा का आलम्बन लेने से शुद्धपर्याय होती है, कारणस्वभाव की ओर अपूर्ण उन्मुखतावाला साधकभाव, वह मोक्षमार्ग (कार्यनियम) है और जो कारणस्वभाव के साथ पूर्ण एकतारूप साम्यभाव प्रगट हुआ, वह कार्यशुद्धजीव है । कार्यनियम और कार्यशुद्धजीव में इतना अन्तर है, किन्तु उसके आधाररूप कारणस्वभाव तो एक ही है; सम्यग्दर्शन का आधार दूसरा हो तथा केवलज्ञान का दूसरा हो — ऐसा नहीं है । सभी को आलम्बन तो एक स्वभाव का ही है, उस स्वभाव का अपूर्ण आलम्बन वह साधकदशा है और पूर्ण आलम्बन वह मोक्षदशा है ।

आत्मा के पारिणामिक स्वभावरूप वर्तता हुआ कारणशुद्धोपयोग त्रिकाल निरुपाधिस्वरूप है, उसे निमित्त के सद्भाव की या अभाव की अपेक्षा नहीं है । केवलज्ञान में कर्मक्षय की अपेक्षा है, किन्तु इस कारणस्वभावज्ञान को तो 'कर्म के क्षय से प्रगट हुआ'-ऐसी अपेक्षा नहीं है; वह तो उपाधिरहित सहज है, आत्मा के द्रव्य-गुण के साथ त्रिकाल अभेदरूप से वर्तता है ।

केवलज्ञान में किंचित् भी अशुद्धता या आवरण नहीं है, इसलिए उसे भी उपाधिरहित तथा स्वभावज्ञान कहा जाता है । और कारणस्वभावज्ञान तो त्रिकाल कर्मोपाधिरहित, एकरूप पारिणामिकस्वभाव से वर्तता है, कर्म की उपस्थिति के समय भी वह तो सहज निरुपाधिक ही है । विभावज्ञान के अभाव की अपेक्षा केवलज्ञान को स्वभावज्ञान कहा है और पाँच भावों के वर्णन में परमपारिणामिक स्वभाव की अपेक्षा औदयिकादि चारों भावों को

विभाव-स्वभाव कहा । — इसप्रकार भिन्न-भिन्न अपेक्षा से जहाँ जो तात्पर्य हो, वहाँ वह समझना चाहिए ।

मोक्षशास्त्र अध्याय २ के प्रथम सूत्र में औपशमिक आदि पाँचों भावों को जीव का स्वतत्व कहा है, जबकि इस नियमसार में कहते हैं कि परमपारिणामिकभाव के अतिरिक्त चारों भाव विभाव हैं, क्षायिकभाव भी विभाव है । - तो क्या इन दो मुनिवरों के कथन में परस्पर विरुद्धता है ?

बिलकुल नहीं, मोक्षशास्त्र में तो जीव के भाव कौन-कौन से हैं — यह बतलाने का प्रयोजन है, और यहाँ पाँच भावों में कौन-सा भाव आश्रय करने योग्य है — यह बतलाने का प्रयोजन है । क्षायिकभाव स्वयं विभाव नहीं है, वह तो शुद्ध है, किन्तु अंश है । उस क्षायिकभावरूप पर्याय का आश्रय लेते हुए विकार की उत्पत्ति होती है । परमपारिणामिक स्वभाव के आश्रय से ही सम्यग्दर्शनादि होते हैं, इसलिये उसी का आश्रय लेने योग्य है ।

यह आत्मा के स्वभाव का वर्णन है। भाई, तेरा आत्मा ऐसे ही स्वभाववाला है, ऐसे स्वभाव को जानकर उसमें अन्तर्मुख हो तो तुझे धर्म होगा । धर्म के लिये अपने आत्मस्वभाव के अतिरिक्त तुझे अन्य किसी का आधार नहीं है । द्रव्य, गुण और कारणशुद्धपरिणति सदृशरूप से त्रिकाल ध्रुव है, वह तेरे धर्म का त्रिकाली कारण है। ऐसा कारण तो तुझमें सदैव विद्यमान है ही, किन्तु तू उसे कारण नहीं बनाता - उसका आलम्बन नहीं लेता, इसलिये धर्म नहीं होता । कारण तो है, किन्तु उसे कारण बनाने वाला तो कार्य है । कार्य का अन्य कोई कारण नहीं है, एकमात्र यही कारण है ; इस कारण का आलम्बन लेने से निर्मलकार्य प्रगट होता है और तभी कारण का कारणपना सफल होता है ।

देखो, यह कारण के साथ कार्य का मेल ! अपनी वर्तमान पर्याय को अभेद कारण के साथ मिलाकर यह बात है । एकदम अन्तर का कारण बतलाकर बाह्य कारणों की दृष्टि छुड़ाई है और अन्तरस्वभाव का आलम्बन कराया है ।

निमित्त कारणों के आश्रय से कार्य होता है - यह बात तो दूर, रागादि व्यवहार कारणों के तथा पर्याय के आलम्बन से भी निर्मलपर्यायरूप कार्य नहीं होता।

निर्मलपर्यायरूपी कार्य तो एकमात्र कारणपरमात्मा के आश्रय से ही होता है, जो कि अपनी कारणशुद्धपरिणिति सहित सदा वर्त रहा है- इसप्रकार अभेदस्वभाव को ही कारणरूप से बतलाकर उसका आलम्बन कराया है और निमित्त राग या पर्याय - तीनों का आलम्बन छुड़ाया है।

यह एक बात समझे तो बाह्य कारणों के सारे झगड़ों का समाधान हो जाये और बाह्य कारणों की दृष्टि छूटकर अन्तरस्वभाव की दृष्टि हुए बिना न रहे। ऐसी अपूर्वदृष्टि प्रगट करने वाले जीव को बाह्य पदार्थ कारणरूप से कैसे निमित्त होते हैं- वह बात आगे १३वीं गाथा में बतलायेंगे। वहाँ निमित्त बतलाने में भी अलौकिक वर्णन करेंगे। टीकाकार का ढंग ही कोई अनोखा है।

टीकाकार मुनिराज कहते हैं कि यह अर्थ हम अपनी कल्पना से नहीं करते; गणधरों और श्रुतधरों की परम्परा से भलीभाँति व्यक्त किये गये अर्थ हमें गुरु परम्परा से प्राप्त हुए हैं और इस समय इस परमागम के सार की पुष्ट रुचि से हमारा मन पुनः पुनः अत्यन्त प्रेरित होता है, 'इस जगह ऐसा उपयोग और इस जगह ऐसी कारणशुद्धपरिणति' इसप्रकार इस परमागम के अर्थों का हमारे हृदय में पुनःपुनः मंथन होता है। और इसलिए यह टीका रची जा रही है,- ऐसा कहकर टीका में अलौकिक भाव स्पष्ट किये हैं। कुन्दकुन्द भगवान ने मूल सूत्रों में अपूर्व रहस्य भर दिया है और अध्यात्म में मस्त महामुनि पद्मप्रभमलधारिदेव ने टीका में उसे एकदम स्पष्ट किया है, अपूर्व आत्मस्वभाव बतलाया है।

प्रत्येक आत्मा का परिपूर्ण स्वभाव है - उसे यहाँ बड़ी स्पष्टता से बतलाया है। जिस प्रकार समुद्र में पानी का समूह, उसकी शीतलता और उसकी एक-सी सतह — इन तीनोंमय समुद्र ज्यों का त्यों पड़ा - फैला है; उसीप्रकार यह आत्मा चैतन्य का सागर आनन्द का समुद्र है वह द्रव्य, गुण

तथा कारणशुद्धपरिणति से ज्यों का त्यों पड़ा - फैला है, वर्तमान वर्तमानरूप से वर्त रहा है, वही निर्मलपर्याय प्रगट होने का कारण है । निर्मलपर्यायरूपी कल्लोल का आधार तो आत्मसमुद्र है ।

जिसप्रकार लैंडीपीपर में चौंसठ पुटी (सोलहों आने परिपूर्ण) चरपराहट भरी है, और उसका वह स्वभाव वर्तमान में भी वर्त रहा है, प्रगटरूप में भले ही कम चरपराहट हो या अधिक हो, उसीप्रकार आत्मा में तीक्ष्ण - उग्र - परिपूर्ण ज्ञानस्वभाव है; द्रव्य सोलह आने परिपूर्ण , गुण सोलह आने परिपूर्ण और कारणशुद्धपरिणति सोलह आने परिपूर्ण । — इसप्रकार आत्मा का परिपूर्ण स्वभाव है ।

वर्तमान में भी ऐसा ही स्वभाव है । उस स्वभावकारण में से मोक्षमार्ग एवं मोक्षरूपी कार्य होता है । द्रव्य-गुण वह सामान्य ध्रुव और उसके साथ की कारणशुद्धपरिणति वह विशेष ध्रुव - ऐसा वर्णन करके यहाँ एकदम निकट का सीधा कारण बतलाया है, कार्य के साथ का तत्कालीन कारण बतलाया है । कार्य जो केवलज्ञान, उसके कारणरूप से वर्तमान वर्तता हुआ सर्वथा निर्मल अप्रगट कारणस्वभावज्ञानोपयोग है, वह उपयोग त्रिकाल निरुपाधिक है । वह द्रव्य-गुण के साथ त्रिकाल पारिणामिकभाव से विद्यमान है, ऐसे द्रव्य के साथ त्रिकाल सहज अभेदरूप ऐसा वह सहज उपयोग केवलज्ञान प्रगट होंने का कारण है । एकदम अन्तर में ध्रुवकारण की यह बात है ।

जो केवलज्ञान प्रगट होता है, वह सकलप्रत्यक्ष है और उसके कारणरूप जो कारणस्वभावज्ञान है, वह स्वरूपप्रत्यक्ष है । कारणस्वभावज्ञान वह आधार है और केवलज्ञान उसके आधार से हुआ कार्य है । यह कारणस्वभाव उपयोग परिणतिरूप होने पर भी ध्रुव है, प्रगट कार्यरूप नहीं है; किन्तु अप्रगट शक्तिरूप है, कारणरूप है । कारणरूप से वह आत्मा में सदैव स्वरूपप्रत्यक्ष वर्तता है ।

कुमति आदि तीन ज्ञान अनादि-सांत हैं, सम्यक्मति-श्रुतादि चार ज्ञान सादि-सांत है और केवलज्ञान सादि-अनंत है; किन्तु इन किन्हीं भी ज्ञानों में

अनादि-अनंत एकरूपता नहीं है, विसदृशता है । इससे रहित जो एक सदृश अनादि-अनंत एकरूप वर्तनेवाला उपयोग है, उसे यहाँ बतलाना है ।

धर्मास्तिकाय आदि चार अरूपी द्रव्यों में सदृश एकरूप परिणति पारिणामिकभावरूप से वर्तती है । इसीप्रकार जो जीव की संसार-मोक्ष पर्याय के अतिरिक्त एक सदृशपरिणति उत्पाद-व्यय रहित ध्रुवरूप पारिणामिकभाव से वर्त रही है, वह कार्यरूप नहीं है; किन्तु कारणरूप है, सदैव शुद्ध है, उपाधि रहित है, और द्रव्य के साथ सदैव अभेदरूप होने से द्रव्यदृष्टि का विषय है । इस निरपेक्षपरिणति का आगे पन्द्रहवीं गाथा में 'कारणशुद्धपर्याय' कहकर सरस रीति से वर्णन किया है, वहाँ उसे पूज्य कहा है और यहाँ सदृशपरिणतिरूप 'कारणस्वभाव ज्ञानोपयोग' कहा है ।

परमपारिणामिकभाव से विद्यमान त्रिकाल निरुपाधिरूप, कारणस्वभावरूप अर्थात् केवलज्ञान के कारणरूप, स्वरूपप्रत्यक्ष (सकल-प्रत्यक्ष का कारण), सहज, त्रिकाल एकरूप अनादि-अनंत, ये सब विशेषण कारणस्वभावज्ञान को लागू होते हैं । ये विशेषण केवलज्ञान को लागू नही होते । कारणस्वभावज्ञान को ही लागू होते हैं, तथापि यह बात है उपयोग परिणति की ।

देखो, यह आत्मा के उपयोग का अद्भुत वर्णन ! इस नियमसार के अतिरिक्त अन्य कहीं ऐसी स्पष्ट बात नहीं आती । देखो, कहाँ से प्रारम्भ करके कहाँ तक लाये हैं ?

यह जीव-अधिकार है । जीव का स्वभाव उपयोग है । उपयोग अर्थात् आत्मा के चैतन्य का अनुसरण करके वर्तने वाले परिणाम । उस उपयोग के दो प्रकार हैं ।(१) ज्ञान और(२) दर्शन । और ज्ञानोपयोग के 'स्वभाव' और 'विभाव'- ऐसे दो प्रकार हैं । सात तत्वों में से एक जीव तत्व में ही इन सर्वप्रकारों का समावेश हो जाता है । इनमें से 'कारणस्वभावज्ञान उपयोग' का यह वर्णन चल रहा है ।

जीव के चैतन्य का अनुसरण करके वर्तता हुआ कारणस्वभावरूप ज्ञानपरिणाम केवलज्ञान का कारण है, त्रिकाल निरावरण है, अमूर्त है, अतीन्द्रिय है। आत्मा में ऐसा उपयोग वर्तमान में वर्त रहा है; किन्तु वह आँखों से दिखाई नहीं देता, मन के विकल्प से भी वह ख्याल में नहीं आता, वह तो अंतर की सूक्ष्मदृष्टि का विषय है। ज्ञानी को उपयोग का स्वसन्मुख कार्य प्रगट होने पर उसके कारणरूप स्वभाव - उपयोग प्रतीति में आ जाता है।

यहाँ स्वभाव उपयोग में कारण और कार्य - ऐसे दो भेद किए, किन्तु विभाव के कारण-कार्य की बात नहीं ली; क्योंकि विभाव का कारणपना सचमुच आत्मा के स्वभाव में है ही नहीं, विकार का कोई ध्रुव आधार नहीं है। आत्मा की कार्य पर्याय में शुद्ध और अशुद्ध - ऐसे दो प्रकार होते हैं, किन्तु कारणपरिणति तो शुद्ध ही है, उसमें शुद्ध तथा अशुद्ध ऐसे दो प्रकार नहीं है। अहो ! आत्मा का स्वभाव तो शुद्धता का ही कारण है, ऐसे स्वभाव को जाने तो उस कारण में से शुद्धकार्य प्रगट हुए बिना न रहे। कार्य जो केवलज्ञान, उसके कारण पर यहाँ जोर देना है। उस कारण का अवलम्बन करने पर शुद्धकार्य प्रगट होता ही है। बीच में साधकदशा में चार ज्ञान प्रगट होने पर भी साधक का जोर तो त्रैकालिक एकरूप कारणस्वभाव पर ही है। कुमति-कुश्रुत और विभंग यह तीन उपयोग मात्र विभावरूप हैं, वे तो अज्ञानी - मिथ्यादृष्टि के ही होते हैं। पहले अज्ञानदशा में जब कारणस्वभाव का भान नहीं था, तब एकान्तविभावरूप उपयोग था, फिर कारणस्वभाव का भान होने पर साधकदशा में सम्यक्मति -श्रुतादि उपयोग प्रगट हुए, साधक-धर्मात्मा की दृष्टि का बल तो एकरूप कारणस्वभाव पर ही है, उस कारण पर जोर देकर एकाग्र होने से केवलज्ञान प्राप्त होता है।

अब कारणस्वभावज्ञान के जानने का फल बताते हैं :—

अथ सकलजिनोक्तज्ञानभेदं प्रबुद्धवा
परिहृतपरभाव : स्वस्वरूपे स्थितो यः।

सपदि विशति यत्तच्चिच्चमत्कारमात्रं
स भवति परमश्रीकामिनीकामरूप: ॥ १७ ॥

जिनेन्द्र कथित समस्त ज्ञान के भेदों को जानकर जो पुरुष परभावों का परिहार करके निजस्वरूप में स्थित रहता हुआ शीघ्र चैतन्यचमत्कारमात्र तत्त्व में प्रवेश कर जाता है, गहराई में उतर जाता है, वह पुरुष परमश्रीरूपी कामिनी का अर्थात् मुक्तिसुन्दरी वल्लभ होता है।

भगवान सर्वज्ञदेव और उनके मार्ग के अतिरिक्त यह बात अन्यत्र कहीं नहीं हो सकती। अपने स्वभावोपयोग में जिन्होंने तीन काल तीन लोक को प्रत्यक्ष जान लिया है - ऐसे भगवान जिनेन्द्र देव ने ज्ञान के यह प्रकार जानकर कहे हैं। जो ऐसे वस्तुस्वभाव को जान ले, उसकी परभावों से भिन्नता और निजस्वरूप में लीनता हुए बिना न रहे।

आत्मा के उपयोग में कार्यस्वभावज्ञान और कारणस्वभावज्ञान ऐसे दो प्रकारों को जानकर जो पुरुष परभावों का परिहार करता है अर्थात् कारणस्वभाव ज्ञान के अतिरिक्त अन्य किन्हीं भावों का अवलम्बन नही करता और निजस्वरूप में स्थिर रहता है, कारणपरमात्मा में गहराई तक उतरकर एकदम लीन हो जाता है, वह जीव साक्षात परमात्मा हो जाता है, अर्थात् मुक्तिसुन्दरी का नाथ हो जाता है।

भाई ! यह तो अपूर्व बात है। सर्वज्ञ के मार्ग का आश्रय लेकर जो इसे समझे, उनकी समझ में आ सकती है।

आत्मा में यदि विसदृशरूप सापेक्ष उत्पाद-व्ययरूप पर्यायें ही हों तथा सदृशरूप निरपेक्ष ध्रुवपरिणति (स्वभावाकार परिणाम, कारणशुद्धपर्याय) न हो-तो वस्तु की पूर्णता वर्तमान में सिद्ध नहीं हो सकती। और यदि वर्तमान व्यक्तरूप विसदृश पर्यायें न हों तो साधकपना अथवा संसार-मोक्ष कुछ भी सिद्ध नहीं होता। इसलिये दोनों प्रकारों को जैसे हैं, वैसा जानना चाहिये। ज्ञान में मतिज्ञानादि विदृश पर्यायें हैं तथा सदृश एकरूप कारणस्वभावज्ञान

भी है और उसके अवलम्बन से केवलज्ञान विकसित होता है - इसप्रकार जानना।

प्रश्न :- पर, इन्हें जानकर क्या करें ?

उत्तर :- सर्वज्ञकथित इन भेदों को जानकर जो जीव परभावों को छोड़ता है तथा निजस्वभाव में एकाग्र होता है - अन्तर्मुख होकर स्वभाव में उतर जाता है, उसे मोक्षदशा विकसित - प्रगट हो जाती है। देखो, इसमें त्रिकालीकारण, मोक्षमार्ग और मोक्ष — ये तीनों आ गये। ध्रुवकारण के आश्रय से जो मोक्षदशा हुई, वह सादि-अनंत मंगलरूप है।

"अहो ! संत मेरे स्वभाव की अचिन्त्य महिमा समझा रहे हैं" - इसप्रकार जो स्वभाव का बहुमान लायेगा, वह भी कृतकृत्य हो जायेगा। अहो ! आत्मा का स्वभाव प्रत्येक समय में पूर्ण-पूर्ण परिपूर्ण है। ऐसे निजस्वभाव के सामर्थ्य का विश्वास करके उसका उल्लास करना सो मोक्ष का कारण है।

जहाँ जीव को स्वभाव की ओर का उल्लास जागृत हुआ, वहाँ विकार की ओर का उत्साह नहीं रहता, इसलिये विकार की ऊर्मियाँ शांत हो जाती हैं, संसार की ओर का उत्साह टूट जाता है और उसके उत्साह की गति स्वभाव की ओर ढल जाती है।

— ऐसा उल्लसित वीर्यवान जीव अल्पकाल में ही मोक्ष प्राप्त करता है।

भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव रचित यह नियमसार शास्त्र अलौकिक है, इसमें अध्यात्म के अत्यन्त गहरे भाव भरे हैं और टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव ने सूक्ष्म रहस्यों को खोलकर आत्मा के परमस्वभाव को प्रकाशित किया है।

दसवीं गाथा में आत्मा के उपयोग - लक्षण का वर्णन करते हुए स्वभाव ज्ञानोपयोग के कारण और कार्य - ऐसे दो प्रकार बतलाये थे और उनमें से कारणस्वभाव ज्ञानोपयोग को परमपारिणामिकभाव से स्थित त्रिकाल

निरुपाधिरूप सहजज्ञान कहकर अद्भुत वर्णन किया था। जिसका विस्तृत विवेचन पूर्व में हो ही गया है।

अब, ११-१२वीं गाथा में उपयोग के भेदों का वर्णन करते हुए इस सहजज्ञान का ही (कारणस्वभाव ज्ञानोपयोग का ही) कार्यस्वभावज्ञानरूप केवलज्ञान की अपेक्षा वर्णन कर रहे हैं, जो कि 'मोक्ष का मूल' और 'उपादेय' है, जिसमें सहजज्ञान के नित्य विलासरूप ऐसे निज आत्मा की भावना करने का उपदेश दिया गया है।

मूल गाथायें इसप्रकार हैं :-

केवलमिंदियरहियं असहायं तं सहावणाणं त्ति।
सण्णाणिदरवियप्पे विहावणाणं हवे दुविहं॥ ११॥
सण्णाणं चउभेयं मदिसुद ओही तहेव मणपज्जं।
अण्णाणं तिवियप्पं मदियाई भेददो चेव॥ १२॥

जो केवलज्ञान इन्द्रियरहित और असहाय है, वह स्वभावज्ञान है। सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञान ऐसे भेदों से विभावज्ञान दो प्रकार का है।

विभावज्ञान में जो सम्यग्ज्ञान है, उसके चार भेद हैं - मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय तथा जो अज्ञान-मिथ्याज्ञान है, उसके तीन भेद हैं- कुमति, कुश्रुत, और विभंग।

मति-श्रुतादि चार ज्ञान सम्यक् होने पर भी अभी अधूरे हैं तथा आवरणसहित हैं, इसलिये उन्हें विभावज्ञान कहा है। और कुमति आदि तीन ज्ञान तो विपरीतरूप ही हैं, इसलिये उन्हें मिथ्याज्ञान कहा है।

जिसमें इन्द्रियों का आलम्बन नहीं है, कर्मों का आवरण नहीं है, पर की सहायता नहीं है— ऐसा अकेला निरपेक्ष ज्ञान, सो कारणस्वभावज्ञान है। वह स्वभावज्ञान परम-महिमावान है, उसका वर्णन करते हुए कारण और कार्य दोनों को एक ही साथ रखकर टीकाकार अद्भुत बात करते हैं।

'जो निरुपाधि स्वरूपवाला होने से केवल (अकेला, शुद्ध) है ; आवरणरहित स्वरूप वाला होने से क्रम, इन्द्रिय और व्यवधान से रहित है ; एक-एक वस्तु में व्याप्त न होकर समस्त वस्तुओं को एकसाथ जानता है, इसलिये असहाय है ; यह कार्यस्वभावज्ञान है और कारणज्ञान भी ऐसा ही है ।'

जीव का उपयोग लक्षण है, उसके भेदों का यह वर्णन है । यह देह से भिन्न चैतन्यमूर्ति अरूपी आत्मा अनादि-अनन्त वस्तु है, उसका उपयोग-लक्षण भी अनादि-अनन्त है । उस उपयोग का 'कारणस्वभावज्ञान' नामक एक प्रकार है, वह भी अनादि-अनन्त है । आत्मा के साथ वह त्रिकाल एकरूप वर्तता है, उसके आधार से केवलज्ञानरूप कार्यस्वभावज्ञान प्रगट होता है, वह सादि-अनन्त है ।

यहाँ कहते हैं कि जैसा कार्यस्वभावज्ञान है, वैसा ही कारणस्वभावज्ञान है । यद्यपि कार्यज्ञान तो सादि-अनन्त है और कारणज्ञान अनादि-अनन्त है, — इसप्रकार उनमें अन्तर है ; तथापि जैसा 'शुद्धकार्य' प्रगट हुआ है, वैसा ही उसका 'शुद्धकारण' भी त्रिकाल वर्तता है — यह बतलाने के लिये यहाँ ऐसा कहा है कि 'कार्यस्वभावज्ञान जैसा ही कारणस्वभावज्ञान है ।' इसप्रकार शुद्धकार्य से ही उसके कारण की पहिचान कराई है । केवलज्ञानरूपी नवीन कार्य कहाँ से प्रगट हुआ ? तो कहते हैं कि केवलज्ञानरूपी कार्य जैसा ही एक कारणस्वभावज्ञान है, और उस कारणस्वभावज्ञान में से वह कार्य प्रगट होता है ।

देखो, इस आत्मा के केवलज्ञानरूप स्वभावकार्य का कारण कोई निमि.. तो है ही नहीं, व्यवहार-रत्नत्रय का राग भी कारण नहीं है और मतिश्रुत ज्ञानरूप जो पूर्वपर्याय - वह भी परमार्थतः कारण नहीं है ; किन्तु आत्मा के साथ त्रिकाल वर्तता हुआ ऐसा जो कारणस्वभाव है, वही केवलज्ञान का परमार्थकारण है, उसी में लीनता से केवलज्ञान होता है । इसलिये कहा है कि जैसा कार्यस्वभावज्ञान है, वैसा ही कारणस्वभावज्ञान है ।

देखो, यहाँ 'कारण जैसा कार्य है' — ऐसा न कहकर 'कार्य जैसा कारण है' ऐसा कहा है ; क्योंकि कार्य व्यक्त - प्रगट है, उस प्रगट कार्य द्वारा अप्रगट शक्तिरूप कारण बतलाना है । कार्य से कारण की पहिचान कराते हैं । केवलज्ञानरूपी कार्य प्रगट होता है तो समझो कि भीतर वैसी ही सामर्थ्यवाला कारण विद्यमान है, जैसा कार्य प्रगट हुआ आत्मा में उसका वैसा ही कारण वर्तता है । इसीप्रकार तेरे आत्मा में भी केवलज्ञान का कारण इस समय वर्त रहा है, उस कारण का अवलम्बन लेने से कार्य प्रगट हो जाता है । सामान्यत: लोगों को केवलज्ञानरूप कार्य की महिमा तो आती है, किन्तु वह केवलज्ञानरूप कार्य होने का कारण इस समय भी अपने में विद्यमान है — वह उनके लक्ष्य में नहीं आता, इसलिये बाह्य कारणों में व्यर्थ की दौड़-धूप करते हैं । यदि अन्तर में ध्रुव उपयोगरूप कारणस्वभावज्ञान को लक्ष्य में लेकर उसी को कारणरूप से स्वीकार करे तो उस कारण के अवलम्बन से कार्य हुए बिना न रहे । यह 'कारण' त्रिकाल मौजूद है, किन्तु इस कारण को स्वीकार करने वाला कार्य तो सादि है । 'कारण की सिद्धि' - सार्थकता तो कार्य से है अर्थात् कार्य होने से कारण की सिद्धि होती है । कारण नया नहीं होता ; किन्तु उस 'कारण की सिद्धि' नई होती है, कारण की प्रसिद्धि - पहिचान नई होती है । जबतक कारण के आश्रय से कार्य प्रगट नहीं किया, तबतक कारण की पहिचान - प्रसिद्धि नहीं होती । जिसने कारण के अवलम्बन से कार्य प्रगट किया, उसी को कारण की सच्ची पहिचान तथा प्रसिद्धि होती है ।

'कार्य' शब्द ही 'कारण' को सूचित करता है अर्थात् 'कार्य' ऐसा नाम 'कारण' की अपेक्षा रखता है ; इसलिये जहाँ कार्य हुआ, वहीं कारण की सिद्धि होती ही है । यहाँ कार्य कहने से मात्र केवलज्ञान नहीं समझना चाहिये, किन्तु स्वभाव के आश्रय से जहाँ सम्यग्ज्ञान हुआ, वहीं कार्य का प्रारम्भ हो गया । सम्यग्ज्ञानरूप कार्य होते ही धर्मी को भान हुआ कि अहो ! मेरा कारण तो मुझमे ही है, पहले से ही मुझमें यह कारणरूप स्वभाव तो था ही, किन्तु मुझे उसका भान नहीं था, मैंने उसका अवलम्बन नहीं लिया था ; इसलिये अभी

तक कार्य प्रगट नहीं हुआ था। अब मुझे इसकारण की महिमा ज्ञात हुई है कि अहो ! जो केवलज्ञान की कारण है - ऐसी अचिन्त्य शक्ति आत्मा में सदैव वर्त रही है, आत्मा की महिमा ही अचिन्त्य है, शुद्ध चैतन्यतरंगें मेरे आत्मा में सदैव उछल रही हैं। — इसप्रकार आत्मा की अचिन्त्य महिमा की प्रतीति होने पर उसमें एकाग्रता से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट हो जाते हैं।

आत्मा अनादि-अनन्त वस्तु है, उपयोग उसका लक्षण है, वह भी अनादि-अनन्त है, जो शुद्ध द्रव्यदृष्टि का विषय है तथा वह कारणस्वभाव उपयोग शुद्ध अंतरंग रूप से सदैव वर्तमान अस्तिरूप वर्तता है और उसमें से जो केवलज्ञान प्रगट होता है, वह कार्यस्वभाव ज्ञानोपयोग है। 'उपयोग वह जीव का लक्षण है' — ऐसा कहने से यह दोनों उपयोग उसमें आ जाते हैं।

यहाँ टीकाकार ने कार्य-कारण की अद्‌भुत संधि बतलाई है। कार्यज्ञान अर्थात् केवलज्ञान ; कार्यस्वभावरूप केवलज्ञान में क्रम नहीं है, इन्द्रियों का अवलम्बन नहीं है, अंतराय या आवरण नहीं है तथा अल्पज्ञता नहीं है। अहो ! केवलज्ञान के सामर्थ्य की क्या बात ? उसमें ऐसा क्रम नहीं है कि एक के बाद एक पदार्थ को जाने, वह तो सबको एक ही साथ अक्रमरूप से जानता है, उसे इन्द्रियों की सहायता की जरूरत नहीं है। वह अतीन्द्रिय है, किसी अन्य की सहायता के बिना स्वयं ही जानता है, इसलिये वह असहाय है— स्वाधीन है, उसे किसी कर्म का आवरण या अंतराय नहीं है, उसमें रागादि विभाव नहीं है, तथा अमुक को जाने और अमुक को न जाने — ऐसी अल्पज्ञता भी उसमें नहीं है। — ऐसा अचिन्त्य महिमावंत कार्यस्वभावज्ञान है और कारणज्ञान भी वैसा ही है। केवलज्ञानरूपी कार्य अतीन्द्रिय है, तो उसका कारण भी वैसा ही अतीन्द्रिय है। केवलज्ञान आवरणरहित है, तो कारणज्ञान भी त्रिकाल आवरणरहित है, केवलज्ञान का कभी (प्रगट होने के पश्चात्) विरह नहीं होता, उसीप्रकार कारणज्ञान का भी तीन काल में विरह नहीं है। केवलज्ञान में क्रम नहीं है, उसीप्रकार कारणज्ञान में भी क्रम नहीं है।

केवलज्ञान में इन्द्रियों की सहायता या पर का अवलम्बन नहीं है, उसीप्रकार कारणज्ञान में भी इन्द्रियों की सहायता या पर का अवलम्बन नहीं है – इसप्रकार केवलज्ञानरूप कार्यस्वभावज्ञान में जैसा सामर्थ्य है, वैसा ही अचिन्त्य सामर्थ्य कारणस्वभावज्ञान में त्रिकाल है और वह कारणज्ञान आत्मा में त्रिकाल है। अहो ! जहाँ कार्य की बात आये, वहाँ त्रैकालिक कारण भी वैसा ही बतलाते जाते हैं। जिसने ऐसे अचिन्त्य महिमावंत अतीन्द्रिय असहाय शुद्ध कारणस्वभावज्ञान का निर्णय किया – स्वीकार किया, उसे किसी पर के आश्रय से अपना ज्ञानरूपी कार्य होने की मिथ्याबुद्धि- भ्रमबुद्धि नहीं रहती।

केवलज्ञानरूपी कार्यस्वभावज्ञान की अचिन्त्य महिमा है और कारणज्ञान भी वैसा ही अचिन्त्य महिमावंत है। केवलज्ञानरूप कार्य तो नया प्रगट होता है, किन्तु केवलज्ञान प्रगट होने से पूर्व ही उसके कारणरूप स्वभावज्ञान वर्त रहा है अर्थात् कारणज्ञान तो अनादि से सदा ही वर्त रहा है – ऐसा धर्मी जानता है। क्या केवलज्ञान निमित्त कारणों में से आयेगा ? नहीं, इसलिये वे सच्चे कारण नहीं है। क्या व्यवहार-रत्नत्रय के राग में से केवलज्ञान आयेगा ? –नहीं, इसलिये वह भी सच्चा कारण नहीं है। कारणस्वभावज्ञान आत्मा में त्रिकाल है, उसी में केवलज्ञानरूप कार्य देने की शक्ति है, उस कारण के अवलम्बन से ही कार्य होता है, इसलिये वही सच्चा कारण है आत्मा को ऐसे सामर्थ्यरूप से दृष्टि में – श्रद्धा में लेना सो सम्यग्दर्शन है, उसका ज्ञान सो सम्यग्ज्ञान है और उसमें लीनता सो सम्यक्चारित्र है और यही मोक्ष का पंथ है। इसके अतिरिक्त जो किसी अन्य बाह्य कारण से मुक्ति का होना मानते हैं, वे संसार के मार्ग में ही खड़े हैं, उन्हें मोक्ष के पंथ की खबर नहीं है।

'कारणज्ञान' निज परमात्मा में विद्यमान सहजदर्शन, सहजचारित्र, सहजसुख तथा सहजपरमचित्शक्तिरूप निजकारण समयसार के स्वरूप को युगपद जानने में समर्थ है। कार्यज्ञान तो उस सहज चतुष्ट्य को जानता ही

है और कारणज्ञान में उसे जानने की सामर्थ्य है, इसलिये वह कारणज्ञान भी कार्यज्ञान जैसा ही है। यद्यपि कार्यज्ञान की भाँति कारणज्ञान जानने का प्रगट कार्य नहीं करता, किन्तु उसमें वैसा कार्य प्रगट होने की शक्ति भरी है, यह बतलाने के लिये उसे यहाँ कार्यज्ञान जैसा कह दिया है।

प्रश्न :– छद्मस्थ का ज्ञान तो आवरणयुक्त तथा क्रमवाला ही होता है न ?

उत्तर :– छद्मस्थ को जो आवरण है, वह विभावरूप कार्यज्ञान में है, कारणज्ञान में नहीं है; उसीप्रकार जो क्रम है, वह भी विभावरूप कार्यज्ञान में ही है, कारणज्ञान में नहीं। इन्द्रियों का निमित्त, परोक्षपना आदि भी कार्यज्ञान में ही है, कारणज्ञान में इन्द्रियों का निमित्त या परोक्षपना आदि नहीं है। अहो! छद्मस्थदशा के समय भी केवलज्ञान जैसी ही सामर्थ्य कारणस्वभावज्ञान में है, ऐसे सामर्थ्य की प्रतीति करके उसके सन्मुख परिणमित होते ही जैसा कारण है, वैसा ही कार्य प्रगट हो जाता है अर्थात् केवलज्ञान हो जाता है। संसारदशा के समय भी कारणस्वभावज्ञान को कोई विघ्न नहीं है और जो ऐसे कारण का अवलम्बन लेता है, उसे केवलज्ञानरूप कार्य होने में विघ्न नहीं आता।

—इसप्रकार कारणरूप तथा कार्यरूप ऐसे शुद्धज्ञान का स्वरूप कहा। उसमें जो कारणस्वभावज्ञान है, वह निश्चयनय का विषय है— द्रव्यदृष्टि का विषय है और जो कार्यज्ञान है वह व्यवहारनय का विषय है। जिसे कार्यस्वभावज्ञान प्रगट हो गया है, उसे स्वयं को कहीं व्यवहारनय नहीं होता; किन्तु दूसरा जीव जब उस कार्य को लक्ष्य में ले, तब उसे व्यवहारनय होता है, और जब अपने कारणस्वभावज्ञान को लक्ष्य में ले, तब उसका ज्ञान अन्तरस्वभावोन्मुख होता है अर्थात् उसे निश्चयनय होता है। निश्चयनय का जो ज्ञेय है, वही वास्तव में केवलज्ञान का कारण है और जो व्यवहारनय का ज्ञेय है, वह वास्तव में केवलज्ञान का अथवा सम्यग्दर्शनादि का भी कारण नहीं है। कारणस्वभावज्ञान के अवलम्बन से जहाँ केवलज्ञान प्रगट हुआ, वहाँ

कारण और कार्य दोनों समान हुए अर्थात् कारण में जैसा सामर्थ्य था, वैसा परिपूर्ण सामर्थ्य कार्य में भी प्रगट हो गया । सम्यक्त्वी को निर्विकल्प आनन्द के वेदन सहित ऐसे कारणस्वभाव की प्रतीति हो गई है, फिर उस कारण में ज्यों-ज्यों एकाग्रता बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों आनन्द का वेदन भी बढ़ता जाता है । भाई ! यह तो वीतरागी मुनियों के मुख से अमृत झरा है ।

देखो, यह गणधरादि संतों की परम्परा में आई हुई बात है । संतों ने अन्तर के सूक्ष्म रहस्य खोले हैं । किसी को विशेष समझ में न आये तो सामान्यरूप से ऐसी महिमा करना चाहिए कि 'अहो ! यह तो मेरे स्वभाव की अचिन्त्य महिमा की बात है । संत मेरे आत्मस्वभाव की अचिन्त्य महिमा समझा रहे हैं ।' इसप्रकार जो इसे सुनकर स्वभाव का बहुमान लायेगा, वह भी कृतकृत्य हो जायेगा ।

अहो ! आत्मा का स्वभाव प्रत्येक समय में पूर्ण-पूर्ण-पूर्ण-परिपूर्ण है, प्रतिसमय अपने स्वभाव सामर्थ्य से वह परिपूर्ण विराजमान है । ऐसे निजस्वभाव के सामर्थ्य का विश्वास करके, उसका उत्साह करना सो मोक्ष का कारण है । जीव को जहाँ स्वभाव की ओर का उत्साह जागृत हुआ, वहाँ विकार की ओर का उत्साह नहीं रहता ; इसलिये विकार की ऊर्मियाँ शांत हो जाती है, संसार की ओर का उत्साह टूट जाता है और उसके उत्साह का वेग स्वभावोन्मुख हो जाता है — ऐसा उल्लसित वीर्यवान जीव अल्पकाल में ही मोक्ष प्राप्त करता है ।

अहो ! केवलज्ञानरूपी कार्य प्रगट होने के आधाररूप कारणस्वभावज्ञान आत्मा में सदैव स्वरूपप्रत्यक्षरूप से वर्त ही रहा है । यह बात कहाँ से निकली ? कारण के आश्रय से सिद्धदशारूप कार्य को साधते हुए साधक सन्तों के आत्मा में से यह बात निकली है । जंगल में वास करने वाले आत्मा के आनन्द में झूलते हुए मुनिराज के अन्तर में से ये रहस्य निकले हैं । अंतरंग अध्यात्म की गहराई में से ये प्रवाह निकले हैं । अंतरंगस्वरूप के

अनुभव को मुनियों ने प्रकाशित किया है। अत्यन्त निकटरूप से केवलज्ञान रूपी कार्य को साधते हुए उसके कारण की अचिन्त्य महिमा की है कि अहो ! यह हमारे केवलज्ञान का कारण है। अंतर में शक्ति के साथ व्यक्ति की संधि करके, कारण के साथ कार्य की संधि करके मुनियों के आत्मा में से सिद्धपद की साधना करते-करते यह अद्भुत ध्वनि उठी है। अहो ! सिद्धपद के साधक मुनियों की क्या बात ! अलौकिक अध्यात्म के अनेक रहस्य उनके अनुभव की गहराई में भरे हैं । उनमें से बाहर तो कुछ ही आ पाते हैं । अंतर की गहराई में से मुनियों ने अलौकिक रहस्य बाहर निकाले हैं। यह अंतर की अद्भुत बात है।

त्रिकाल कारणस्वभावरूपज्ञान की प्रतीति करने से साधकदशारूप कार्य प्रगट हो जाता है और उसका पूर्ण कार्य तो केवलज्ञान है। त्रिकाल वर्तता हुआ जो स्वरूपप्रत्यक्ष ज्ञान है, वही केवलज्ञान का अभेद कारण है, वह ब्रह्मस्वरूप है और उसमें अंतर्मुख होने का यह उपदेश है, इसलिये यह "ब्रह्मोपदेश" है।

कैसा है यह ब्रह्मोपदेश ? तो कहते हैं कि संसार के मूल का छेद करने वाला है। जो जीव इस ब्रह्मस्वरूप आत्मस्वभाव को जानकर उसमें अंतर्मुख होता है, उसके संसार का छेदन हो जाता है। वेदान्तवाले जो अद्वैत-ब्रह्म कहते हैं - यह उसकी बात नहीं है, विशेष रहित एकान्त अद्वैतसामान्य तो खरगोश के सींगों की भाँति असत् होने से मिथ्या है। यहाँ तो पर्याय को अन्तर्मुख करके विशेष सहित के सामान्य की कोई अचिन्त्य बात है। जो कार्य हुआ, वह विशेष है और उसका जो एकरूप कारण है, वह सामान्य है। —इसप्रकार सामान्य और विशेष की एकतारूप अनेकान्तिक वस्तुस्वरूप है।

केवलज्ञान के आधाररूप जो कारणस्वभावज्ञान है, उसे परमपारिणामिकभाव में स्थित कहा है। केवलज्ञान तो क्षायिकभाव में सादि-अनंत स्थित है और यह कारणस्वभावज्ञान परमपारिणामिकभाव में अनादि-अनन्त स्थित है। यहाँ कोई ऐसा कहे कि जिसप्रकार क्रोधादि को

कर्मोदय की अपेक्षा तो औदयिकभावरूप कहा है, और अन्य की अपेक्षा बिना उन्हें पारिणामिकभावरूप कहा है, उसीप्रकार यहाँ भी कर्मक्षय की अपेक्षा से तो केवलज्ञान को क्षायिकभावरूप कहो और निरपेक्षदृष्टि से उसी को पारिणामिकभावरूप सहजज्ञान कहो ?

नहीं, जो सहजकारणस्वभावरूप ज्ञान है वह तो त्रिकाल निरूपाधिरूप है और वह पारिणामिकभावरूप से सदैव वर्तता है, उसका कभी विरह नहीं है और केवलज्ञान तो नया प्रगट होता है, पहले उसका विरह था। कारणस्वभावज्ञान का पहले भान नहीं था, इस अपेक्षा से उसका विरह कहा जा सकता है, तथापि उस समय भी उसका अभाव नहीं था। कारणज्ञान को तो स्वरूपप्रत्यक्ष कहा है और केवलज्ञान को स्वरूपप्रत्यक्ष नहीं कहा; किन्तु सकलप्रत्यक्ष कहा है। –इसप्रकार केवलज्ञान ही कारणस्वभावज्ञान नहीं है – ऐसा समझना। ज्ञान का जो त्रिकाल प्रत्यक्ष स्वभाव है, उसे यहाँ स्वरूप-प्रत्यक्ष, सहजज्ञान अथवा कारणस्वभावज्ञान कहा है।

यह कारणस्वभावज्ञान तो समस्त जीवों में त्रिकाल वर्त ही रहा है। जैसे – सिद्ध भगवन्त लोकाग्र में विराजमान हैं, वैसे ही भवलीन संसारी जीव हैं अर्थात् 'सर्व जीव हैं सिद्धसम' – ऐसा कहा है, उसमें तो वह शक्ति अपेक्षा से कहा है, कहीं सिद्धभगवन्तों की भांति पूर्णज्ञान-आनन्दरूप सिद्धदशा संसारी जीवों के प्रगट नहीं है। किन्तु यह जो कारणस्वभावज्ञान है, वह तो समस्त जीवों को सदैव वर्त ही रहा है, वह नया नहीं होता; किन्तु उसके आश्रय से सम्यग्ज्ञान नया प्रगट होता है। त्रिकाल ज्ञानस्वभाव शुद्ध है और उसके आश्रय से होने वाला केवलज्ञान भी शुद्ध है, एक कारणरूप से शुद्ध है और दूसरा कार्यरूप से शुद्ध है।

यह शुद्धज्ञान कैसा है ? तो कहते हैं कि आनन्ददाता है। उसमें कार्यरूप केवलज्ञान तो सादि-अनन्त आनन्ददाता है और अनन्त चतुष्टय का सादि-अनन्त भोक्ता है। तथा कारणरूप शुद्धज्ञान अनादि-अनंत आनन्ददाता है – त्रिकाल आनन्द के साथ एकमेक है, सहज चतुष्टय के साथ ही सदा शोभायमान हो रहा है।

अनन्त आनन्ददाता केवलज्ञान महिमावान तो है, किन्तु वह प्रगट कहाँ से हुआ ? तो कहते हैं कि कारणस्वभावज्ञान में से । इसलिये इससे भी अधिक महिमा उस कारणस्वभावज्ञान की है । निचलीदशा में केवलज्ञान तो होता नहीं है, किन्तु कारणज्ञान होता है और उस कारण की महिमा लाकर उसमें लीन होने से केवलज्ञान प्रगट हो जाता है । अज्ञानी मात्र पर्याय की महिमा करके बाह्य कारणों की शोध में लगा रहता है; किन्तु केवलज्ञान प्रगट होने के आधाररूप अपने स्वभाव में जो त्रिकाली कारणज्ञान वर्त रहा है, उसकी महिमा उसे ज्ञात नहीं है । यदि अपने कारणस्वभाव की महिमा आ जाये तो उसके बल से शुद्धकार्य प्रगट हो और बाह्य कारणों की दृष्टि छूट जाय । केवलज्ञान होने से पहले भी अपने में ध्रुव कारणरूपस्वभाव तो है ही, उसकी प्रतीति करना सो सम्यग्दर्शन है । तथा उस कारण की महिमा करके उसमें एकाग्र होने से केवलज्ञान विकसित हो जाता है ।

जब आत्मा के स्वभाव को पहिचाने, तभी उसकी सच्ची महिमा आती है । आत्मा की पहिचान बिना उसका माहात्म्य पहले से कैसे आ सकता है ? आत्मा क्या है, उसके गुण क्या हैं, उसका स्वभाव क्या है ? —इसप्रकार ज्यों-ज्यों पहिचान होती है, त्यों-त्यों उसकी महिमा आती है । जैसे— किसी चरवाहे को सवा लाख रुपये का सुन्दर हीरा मिल गया हो, किन्तु उसकी पहिचान के बिना वह उसके माहात्म्य को नहीं जानता । अतः वह तो उसे अच्छे काँच का टुकड़ा मानकर किसी गाय-बकरी के गले में बाँध देगा । किन्तु कोई जौहरी उसे बतलाये कि अरे ! यह तो सवा लाख रुपये का हीरा है, तो उसकी पहिचान होने पर वह उसके माहात्म्य को जानकर सुखी होता है । उसीप्रकार यहाँ चरवाहा अर्थात् अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जीव, उसके पास महामूल्यवान चैतन्यरत्न है ; किन्तु पहिचान न होने के कारण वह उसकी यथार्थ महिमा को नहीं जानता, इसलिये वह तो उसे बकरी के गले की भाँति शुभ-अशुभ राग में ही बाँध देता है; किन्तु जब भेदज्ञानी जौहरी उसे समझाते हैं कि 'अरे मूढ़ ! यह तेरा चैतन्यरत्न शुभाशुभ राग जितना नहीं है, यह तो

ज्ञान-आनन्द-प्रभुता आदि अनन्तगुणों से परिपूर्ण है, इसमें चैतन्य की प्रभा चमक रही है, उपशांतरस की लहरें उछल रही हैं, अतीन्द्रिय-प्रकाश की किरणें फूट रही हैं।' भेदज्ञानी के समझाने पर जब उसे ऐसा भान होता है, तब उसे उसकी अपार महिमा आती है कि अहो ! ऐसा है मेरा चैतन्यरत्न !— ऐसी महिमा आने पर वह अपने चैतन्यरत्न को राग के साथ नहीं बाँधता — राग में एकाग्र नहीं करता; किन्तु स्वयं अपने स्वभाव में ही एकाग्र होता है।—इसप्रकार आत्मा का स्वरूप जाने तो उसकी यथार्थ महिमा आये और उसमें एकाग्र होकर मुक्ति प्राप्त करे।

आत्मा वर्तमान में भी ऐसी परिपूर्ण स्वभाव से भरा है, उसकी महिमा आये बिना किसी जीव को सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र या मोक्षरूपी कार्य प्रगट नहीं होता। इसलिये यहाँ सन्त आत्मा का स्वरूप बतलाते हैं कि हे भाई ! तेरे आत्मा का स्वभाव किसी समय अधूरा नहीं है, वर्तमान में भी उसका स्वभाव परिपूर्ण है, इसलिये उसमें एकमेकपने की बुद्धि करके उसी का अभेद आलम्बन कर, उसी की महिमा लाकर उसी में अन्तर्मुख हो, उसी पर जोर दे, उसी की प्रधानता कर, उसी को मुख्य कर, उसी का आश्रय कर, उसी में उत्साह कर, उसी में तत्पर हो, संतुष्ट हो, उसी की आराधना कर, उसी का ध्यान कर ! तेरा यह स्वभाव सर्व शक्तिमान प्रभु है, उसे कोई दबानेवाला नहीं है, कोई विघ्न-बाधा नहीं है, काल या कर्म उसे आवृत नहीं कर सकते, अनादि-अनन्त जब देखो तब वर्तमान में ही वह परिपूर्ण है, तू जिस समय अन्तर्मुख होकर अपने ऐसे आत्मस्वभाव को पकड़े, वह समय तेरा अपना है, वह स्वसमय है। आत्मा में प्रतिसमय पूर्णता विद्यमान है, कोई भी क्षण ऐसा नहीं होता, जब पूर्ण कार्य प्रगट करने के लिये आत्मा में वर्तमान पूर्ण कारण न हो। 'पूर्ण कारण' प्रतिसमय विद्यमान हैं, उस कारण के स्वीकार से कार्य प्रगट हो जाता है।

देखो, यह अन्तर के कारण-कार्य की सृष्टि। आत्मा के कारण स्वभाव में से ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप कार्य की सृष्टि — उत्पत्ति होती है। इसमें

कार्य तो उत्पाद-व्ययरूप परिणाम है, वह पहले नहीं होता और फिर प्रगट होता है और कारणस्वभाव वह ध्रुवरूप परिणाम है, वह सदैव विद्यमान है, उसमें उत्पाद-व्यय नहीं है। अर्थात् वह प्रगट पर्याय में नहीं आता, नित्य कारणरूप विद्यमान रहता है। केवलज्ञान के कारणरूप जो ध्रुव ज्ञानपरिणाम है, उसे सहज स्वभावज्ञान अथवा स्वरूपप्रत्यक्षज्ञान कहते हैं, उसमें आत्मा के सहज चतुष्टय को युगपत् जानने की सामर्थ्य त्रिकाल है, उस त्रिकाल के साथ वर्तमान की एकता होने से वह वर्तमान पर्याय भी पूर्ण सामर्थ्यरूप से परिणमित हो जाती है। इसमें से निम्न निष्कर्ष निकलते हैं :—

(१) त्रिकाल सामर्थ्य में से वर्तमान आता है।

(२) ध्रुव के आश्रय से ही उत्पाद होता है।

(३) द्रव्य में से पर्याय आती है।

(४) कारण के आश्रय से कार्य होता है।

(५) शक्ति में से व्यक्ति होती है।

(६) प्राप्त की प्राप्ति होती है।

(७) निश्चय के आश्रय से मुक्ति होती है।

(८) ज्ञायकस्वभावी आत्मा विकार का अकर्ता है।

(९) आत्मा की शक्तियाँ बाह्य कारणों से अत्यन्त निरपेक्ष हैं।

(१०) आत्मा और पर प्रत्येक द्रव्य का परिणमन स्वतंत्र है।

— इनमें से किसी भी एक बोल का निर्णय करने पर सभी बोलों का निर्णय हो जाता है और यह जैनशासन की मूलवस्तु है, इसको समझे बिना जैनधर्म का रहस्य समझ में नहीं आता और अन्तर्मुख हुए बिना आत्म-वस्तु समझ में नहीं आती।

आत्मा स्वयं परमस्वरूप होने से परमात्मा है। उसमें सहजदर्शन, सहजचारित्र, सहजसुख तथा सहज परमचित् शक्ति त्रिकाल विद्यमान है, वह कारणसमयसार स्वरूप है।

यहाँ जो सहज चतुष्टय को कारणसमयसार कहते हैं, वही

कारणपरमात्मा है और वह त्रिकाल एकरूप है, उसके आश्रय से अनन्तचतुष्टयरूप कार्यसमयसारपना प्रगट होता है और 'समयसार' आदि में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप से परिणमिति आत्मा को 'कारणसमयसार' कहते हैं — वह दूसरी बात है, उसमें तो मोक्षमार्ग की बात है। आत्मा मोक्ष के कारणरूप मोक्षमार्गरूप में परिणमित हुआ इसलिए उसे 'कारणसमयसार' कहा है। वास्तव में जो ध्रुवरूप कारणसमयसार है, वही मोक्ष का निश्चयकारण है और यह जो मोक्षमार्गरूप कारणसमयसार है, वह व्यवहार से मोक्ष का कारण है।

देखो, यहाँ निश्चय मोक्षमार्ग को मोक्ष का कारण कहना - उसे भी व्यवहार कहा है, क्योंकि मोक्षमार्ग की पर्याय कहीं मोक्षदशा को नहीं लाती, एक पर्याय के आश्रय से दूसरी पर्याय नहीं होती। मोक्षमार्ग की पूर्णता होने पर मोक्ष होता है — ऐसा नियम है, किन्तु वह मोक्ष किसके आश्रय से होता है ? —यह यहाँ बतलाना है। पूर्व का साधकभाव कहीं साध्य को बलात्-जबरन् परिणमित नहीं करता, किन्तु साध्यपर्याय स्वयं स्वभाव का आश्रय करके स्वतः परिणमित होती है।

प्रश्न :- यदि साधकभाव साध्यभाव को परिणमित नहीं करता, तो फिर उस पूर्वभाव को साधक क्यों कहा ?

उत्तर :- क्योंकि पूर्वकालीन साधकभावपूर्वक ही साध्यभाव प्रगट होता है, इसलिये पूर्वभाव को साधक कहा है। जैसे— सम्यक्मति-श्रुतज्ञानपूर्वक ही केवलज्ञान होता है, ऐसा पूर्व-उत्तरभाव बतलाने के लिए मति-श्रुतज्ञान को केवलज्ञान का साधक कहा है; किन्तु केवलज्ञान कहीं मति-श्रुतज्ञान के आधीन नहीं है। मति-श्रुतादि साधकभाव भी केवलज्ञानरूपी साध्यभाव को जबरन परिणमित नहीं करते, तो फिर व्यवहार, राग या निमित्तादि की तो बात ही कहाँ रही ? यहाँ तो एकदम अन्तर्मुखता की बात करते हैं कि अरे जीव ! अपने केवलज्ञान के कारण को अपने स्वभाव में ही ढूंढ, तेरा कारणस्वभाव ही केवलज्ञान का कारण है।

जहाँ अन्तर्मुख होकर ऐसे कारण में लीन हुआ, वहाँ 'यह मेरा कारण और यह मेरा कार्य' — ऐसे कारण-कार्य के भेद के विकल्प भी नहीं है।

कारणस्वभावज्ञान और कार्यस्वभावज्ञान — इसप्रकार स्वभावज्ञान के दो प्रकार कहे हैं। विभावज्ञान सम्यक् और मिथ्या — ऐसे दो प्रकार का है; उसमें से सम्यग्ज्ञान के मति-श्रुत-अवधि और मनःपर्यय — ऐसे चार भेद हैं; तथा मिथ्याज्ञान के कुमति-कुश्रुत और विभंग — ऐसे तीन भेद हैं।

इसप्रकार ज्ञान के कुल नौ प्रकार हुए। इनमें से कौन-सा ज्ञान किन जीवों को होता है, सो कहते हैं—

कारणस्वभावज्ञान तो समस्त जीवों को त्रिकाल होता है और कार्यस्वभावज्ञान अर्थात् केवलज्ञान अरिहंत और सिद्ध भगवन्तों को होता है।

परमभाव में स्थित ऐसे सम्यग्दृष्टि एवं साधक को ही मति-श्रुत-अवधि और मनःपर्यय यह चार सम्यग्ज्ञान होते हैं, अवधिज्ञान किसी-किसी सम्यक्त्वी को ही होता है और मनःपर्ययज्ञान तो किन्हीं विशिष्ट संयमधारी मुनिवरों को ही होता है।

मिथ्यादृष्टि जीवों को कुमति, कुश्रुत और विभंग यह तीन मिथ्याज्ञान होते हैं; उनमें से विभंगज्ञान किसी-किसी मिथ्यादृष्टि को ही होता है।

यहाँ सम्यग्दृष्टि आदि को 'परमभाव में स्थित' कहा है। सम्यक्त्वी किसी राग व्यवहार में अथवा औदयिकादि भावों में स्थित नहीं है, किन्तु परमभाव में ही स्थित है। 'परमभाव' अर्थात् आत्मा का त्रिकाली पारिणामिक स्वभाव; उसमें जिसने अपनी दृष्टि को एकाग्र किया है, वह सम्यग्दृष्टि है और जिसकी दृष्टि रागादि में एकाग्र है, वह मिथ्यादृष्टि है।

यहाँ ऐसा कहा है कि सम्यग्दृष्टि परमभाव में स्थित है। किसी सम्यक्त्वी को अवधि या मनःपर्ययज्ञान हो अथवा न हो; कोई चौथे गुणस्थान में हो, कोई पाँचवें में हो अथवा कोई छट्ठे-सातवें आदि गुणस्थान में हो; किन्तु वे

सभी सम्यक्त्वी 'परमभाव' में स्थित होते हैं।

शरीरादि तो जड़ तथा पर हैं, पुण्य-पाप विकार हैं, मतिज्ञानादि क्षायोपशमिक भाव हैं – ये तो परमभाव हैं ही नहीं, केवलज्ञान भी परमभाव नहीं है। परमभाव तो आत्मा का त्रिकाली स्वभाव है अर्थात् आत्मा का जो एकरूप परमपारिणामिक स्वभाव है, वही 'परमभाव' है। वह सदा शुद्ध है, वही केवलज्ञान और सम्यग्दर्शनादि का आधार है। सम्यग्दृष्टि जीव ऐसे परमभाव की भावना में ही स्थित होते हैं। जो किसी निमित्त, संयोग, विकार या क्षणिकभाव की भावना में स्थित है, वह सम्यग्दृष्टि नहीं है। जो बाह्यपदार्थों के अवलम्बन से धर्म मानता है, वह जीव परमभाव में स्थित नहीं है ; वह तो बाह्यपदार्थों में ही स्थित है। उसीप्रकार जो राग के अवलम्बन से धर्म मानता है, वह राग में स्थित है, वह परमभाव में स्थित नहीं है ; इसलिये वह ज्ञानी - सम्यग्दृष्टि नहीं है।

जिसे एकसमय में परिपूर्ण आनन्दकन्द ऐसे अपने परमस्वभाव की प्रतीति और भावना नहीं है, और रागादि बाह्यभावों – परभावों से लाभ मानकर जो उनकी भावना भाता है, वह मिथ्यादृष्टि है ; उस मिथ्यादृष्टि के ज्ञानादि भी मिथ्या होते हैं ; क्योंकि त्रिकाल एकरूप, ध्रुव, कारणस्वभावरूप परमभाव की भावना से ही सम्यग्दर्शनादि होते हैं।

देखो, यह विकल्पयुक्त भावना की बात नहीं है, किन्तु परमभाव के आश्रय से जो भवन - परिणमन हुआ, उसकी बात है तथा वही सच्ची भावना है और वही मोक्षमार्ग है। विकल्प की भावना तथा विकल्प से भावना भाना मोक्षमार्ग नहीं है, किन्तु अन्तर्मुख निर्विकल्प पर्याय से आत्मा के परमस्वभाव की भावना, वह मोक्षमार्ग है। परमस्वभाव में एकाग्र होकर जो पर्याय परिणमित हुई, उसने परमस्वभाव की भावना भायी – ऐसा कहा जाता है। तद्रूप परिणमन के बिना मात्र विकल्प से भावना भाये, वह सच्ची भावना नहीं है। छट्ठे-सातवें गुणस्थान में बारम्बार निर्विकल्प आनन्द में झूलते हुए

भावलिंगी संत हों अथवा छियानवे हजार रानियों के बीच रहने वाले चक्रवर्ती सम्यग्दृष्टि गृहस्थ हों – दोनों को आत्मा के परमभाव की ही भावना होती है, उनके रागादि परभावों की भावना नहीं होती। इसलिये वे राग में स्थित नहीं हैं, किन्तु परमभाव में ही स्थित हैं। सम्यक्त्वी को राग हो, उस समय भी उन्हें उस राग की भावना नहीं होती, किन्तु परमभाव की ही भावना होती है और ज्यों-ज्यों वह भावना उग्र होती जाती है, त्यों-त्यों गुणस्थान में भी वृद्धि होती जाती है और इसी उपाय से केवलज्ञान होता है। मात्र बाह्यक्रिया अथवा कषाय की मंदता देखकर गुणस्थान का माप नहीं होता।

जो अपने परमभाव को नहीं जानता और रागादि परभावों को ही अपने स्वभावरूप से मानता है, उसे स्व-पर प्रकाशक सम्यग्ज्ञान नहीं होता; उसे तो मिथ्याज्ञान ही होता है। रागादि से अथवा निमित्तों से लाभ मानने वाला जीव एकान्त परज्ञेय सन्मुख रहता है और परभावों में ही वर्तता है, किन्तु स्वभावोन्मुख होकर स्वज्ञेयरूप ऐसे अपने परमभाव को वह नहीं जानता, इसलिए उसे सम्यग्ज्ञान नहीं होता।

इसप्रकार जो परमभाव की भावना में स्थित है, वही सम्यग्दृष्टि और सम्यग्ज्ञानी है तथा जो परमभाव की भावना में स्थित नहीं है, वह मिथ्यादृष्टि है — अज्ञानी है।

इसप्रकार नौ प्रकार के ज्ञान में कौन-सा ज्ञान किसे होता है — यह बतलाया। अब उसके प्रत्यक्ष और परोक्षपने का वर्णन आगे करेंगे, उसमें 'स्वरूप-प्रत्यक्ष' ज्ञान की अद्भुत बात आयेगी।

यह नियमसार की ११-१२वीं गाथा चल रही है। इनमें पहले तो ज्ञान के नौ प्रकार बतलाये, फिर उनमें कौन-सा ज्ञान किस जीव को होता है — यह बतलाया; अब उसमें कौन-सा ज्ञान प्रत्यक्ष है और कौन-सा परोक्ष है ? यह बतलाते हैं।

पहले जो कारणस्वभावज्ञान कहा, वह सहजज्ञान है। आत्मा के शुद्ध

अन्तःस्वरूप में सदैव विद्यमान होने से वह स्वरूपप्रत्यक्ष है। उसकी परम महिमा बतलाते हुए टीकाकार आगे कहेंगे कि यह सहजज्ञान मोक्ष का मूल है, उपादेयरूप है और उस सहजज्ञान के विकासरूप से आत्मा को भाना चाहिये।

यहाँ सहजज्ञान का वर्णन 'स्वरूपप्रत्यक्ष' कहकर किया है। कोई ऐसा समझे कि यह 'स्वरूपप्रत्यक्ष' केवलज्ञान का विशेषण है, तो उससे कहते हैं कि ऐसा नहीं है ; केवलज्ञान तो 'सकलप्रत्यक्ष' है। यह स्वरूपप्रत्यक्ष सहजज्ञान आत्मा में सदैव वर्तता है, यह परम आदरणीय है। तीन अज्ञान तो छोड़ने जैसे ही हैं, चार सम्यग्ज्ञान भी आश्रय करने योग्य नहीं है ; क्योंकि उस अपूर्ण ज्ञान के आश्रय से पूर्ण ज्ञान नहीं होता और केवलज्ञान तो साधक को है नहीं, इसलिये उसका भी आश्रय नहीं होता। साधक को आदरणीय तो परमस्वभावरूप सहजज्ञान ही है और सहजज्ञान स्वरूपप्रत्यक्ष होता है।

इसप्रकार केवलज्ञान के ध्रुवकारणरूप यह सहज स्वरूपप्रत्यक्ष ही आदरणीय है। यह ज्ञान शुद्धतत्त्व में सदैव व्यापक है, उसमें कभी अशुद्धता या आवरण नहीं है तथा उसका कभी विरह भी नहीं है।

केवलज्ञान तो एक साथ सकल पदार्थों का प्रत्यक्ष ज्ञाता होने से सकल-प्रत्यक्ष है और सहजज्ञान सदैव आत्मस्वरूप में विद्यमान होने स्वरूपप्रत्यक्ष है। तथा स्वरूपप्रत्यक्ष सो सकलप्रत्यक्ष का कारण है; इसलिये उसे 'कारणस्वभावज्ञान' अथवा तो 'ज्ञान की कारणशुद्धपर्याय' भी कहते हैं।

प्रश्न :- यह स्वरूपप्रत्यक्ष ज्ञान तो केवली भगवान को ही होता है न ?

उत्तर :- नहीं, यह ज्ञान तो समस्त जीवों में त्रिकाल विद्यमान है। अज्ञानदशा में भी इस स्वरूपप्रत्यक्ष ज्ञान का अस्तित्व होता ही है, किन्तु अज्ञानी को उसका भान न होने से उसे उसका कार्य प्रगट नहीं होता। साधक

को उसका भान है ; केवलज्ञान होने से पूर्व भी उसे प्रतीति हो गई है कि केवलज्ञान का कारणरूप ज्ञान मुझमें ही वर्त रहा है; उस कारणज्ञान के आश्रय से ही मेरा केवलज्ञान रूप कार्य होगा। — इसके सिवा अन्य कोई मेरे केवलज्ञान का कारण नहीं है। यह सहजस्वभावरूप स्वरूपप्रत्यक्ष ज्ञान अन्तर्दृष्टि का विषय है ; वह सम्यक्त्वी को ही प्रतीति में आता है। 'इसे स्वरूपप्रत्यक्ष कहते हैं' — ऐसे नाम की खबर कदाचित् सम्यक्त्वी को भले न हो ; किन्तु अन्तर्मुख वेदन से जो प्रतीति हुई, उसमें इस स्वरूपप्रत्यक्ष की प्रतीति आ जाती है। यह स्वरूपप्रत्यक्ष ज्ञान कहीं आत्मा से पृथक् नहीं है, किन्तु वह आत्मा का ही स्वभाव है ; इसलिये आत्मस्वभाव की प्रतीति में वह भी आ जाता है।

जैसे— लैंडी पीपर का स्वभाव चरपरा है और चौंसठपुटी चरपराहट का प्रगट होना उसका पूरा कार्य है। वह कार्य प्रगट होने से पूर्व भी चौंसठपुटी चरपराहट प्रगट होने के कारणरूप एक स्वभाव उसमें वर्तमान वर्त रहा है। उसीप्रकार आत्मा का ज्ञानस्वभाव है और प्रगट केवलज्ञान उसका पूर्ण कार्य है ; वह केवलज्ञानरूपी कार्य प्रगट होने से पूर्व भी केवलज्ञान प्रगट होने के कारणरूप स्वभावज्ञान उसमें शक्तिरूप नित्य विद्यमान है, वह सहज है, स्वरूपप्रत्यक्ष है।

मति-श्रुतज्ञान को स्वसंवेदन-प्रत्यक्ष कहा जाता है, यहाँ उसकी बात नहीं है, यहाँ तो स्वरूपप्रत्यक्ष की बात है। मति-श्रुतज्ञान जब अर्न्तमुख होकर आत्मा का वेदन करते हैं, तब उन्हें इन्द्रियादि का अवलम्बन छूट जाता है ; इसलिये स्वसंवेदन में उन मति-श्रुतज्ञान को भी प्रत्यक्ष कहा है, वे क्षायोपशमिक भाव हैं और केवलज्ञान सकलप्रत्यक्ष है, वह क्षायिकभाव तथा सहजज्ञान 'स्वरूप-प्रत्यक्ष' है, वह पारिणामिकभाव है। इसकारण स्वभावज्ञान में औदयिक, औपशमिक, क्षयोपशमिक और क्षायिकभाव नहीं है।

यह सहज स्वरूपप्रत्यक्ष ज्ञान सदैव पारिणामिकभावरूप से स्थित है, इसलिये वह जानने का कार्य नहीं करता ; कारण कि वह कार्यरूप प्रगट नहीं है, किन्तु नित्य-शक्तिरूप — कारणरूप है ; कारणरूप से उसमें पूर्ण सामर्थ्य है और उसके आश्रय से पूर्ण कार्य (केवलज्ञान) प्रगट हो जाता है ।

जिसमें कारणरूप से पूर्ण सामर्थ्य है, ऐसा स्वरूपप्रत्यक्ष ज्ञान तो समस्त जीवों में है ; किन्तु उसका जो यथार्थरूप से स्वीकार करे उसे सम्यग्ज्ञान होकर, अनुक्रम से उसी के आश्रय से सकलप्रत्यक्ष ऐसा केवलज्ञान प्रगट होता है । तथा जिसे अपने ऐसे ज्ञानसामर्थ्य का भान नहीं है और जो इन्द्रियों को ही अपने ज्ञान के साधनरूप से स्वीकार करता है, वह मूढ़ प्राणी मात्र इन्द्रियज्ञानरूप मिथ्याज्ञान द्वारा संसार में ही भटकता है । इस स्वरूपप्रत्यक्ष ज्ञान के स्वीकार द्वारा मोक्ष होता है, इसलिये यह ज्ञान मोक्ष का मूल है । दसवीं गाथा में जिसे कारणस्वभावज्ञानोपयोग कहा, उसी को यहाँ स्वरूपप्रत्यक्ष सहजज्ञान कहा है ; वह आत्मा का परमस्वभाव है और मोक्ष का मूल है ; इसलिये उपादेय है ।

केवलज्ञान तो नवीन होता है, इस समय साधकदशा में तो उसका विरह है ; इसलिये वह स्वरूपप्रत्यक्ष नहीं है । सहजज्ञान तो आत्मा में त्रिकाल अविच्छिन्नरूप से विद्यमान है, उसका कभी विरह नहीं है ; इसलिये वह स्वरूपप्रत्यक्ष है तथा वह सम्यग्दर्शन का विषय है । उसके अवलम्बन से जो नवीन निर्मलपर्याय प्रगट हुई, वह भी अभेदरूप से सम्यग्दर्शन के विषय में आ जाती है । निर्मलपर्याय आत्मा के साथ अभेद है, इसलिये वह सम्यग्दर्शन के विषय से पृथक् नहीं रहती ; पर दृष्टि में गौण रहती है ।

जिसप्रकार धर्म-अधर्म-आकाश आदि त्रिकाल पारिणामिकभाव से वर्तते हैं, उसीप्रकार आत्मा के ज्ञानादि स्वभाव भी त्रिकाल पारिणामिकभाव रूप से वर्तते हैं । कर्म की अपेक्षावाले जो चार भाव हैं, वे व्यवहारनय के विषय हैं और पारिणामिकस्वभाव निश्चयनय का विषय है । ज्ञान का जो परमपारिणामिकस्वभाव है, वही केवलज्ञान का आधार हैं । यहाँ जिसप्रकार

ज्ञानगुण की बात की, उसीप्रकार श्रद्धा, आनन्द आदि समस्त गुणों में भी समझ लेना।

आगे पन्द्रहवीं गाथा में पूर्णद्रव्य के पारिणामिकभावरूप शुद्ध-पर्याय की बात आयेगी, वह शुद्ध कार्य प्रगट होने का मूल कारण होने से टीकाकार मुनिराज उसे 'पूज्य परिणति' कहेंगे, यद्यपि सम्यग्दर्शन और केवलज्ञान आदि परिणति भी पूज्य है, किन्तु यहाँ तो आत्मा के साथ सदैव वर्तती हुई पूज्य परिणति की बात है अर्थात् पारिणामिकभावरूप से वर्तती हुई परिणति की बात है।

ज्ञान की पारिणामिकभावरूप से वर्तती हुई सहज परिणति तो स्वरूपप्रत्यक्ष है और केवलज्ञान सम्पूर्णप्रत्यक्ष है। इसप्रकार दो ज्ञानों की बात की ; अब शेष ज्ञानों में प्रत्यक्ष-परोक्षपना किसप्रकार है, सो कहते हैं।

'रूपिष्ववधेः' ऐसा सूत्र का वचन होने से अवधिज्ञान विकलप्रत्यक्ष है अर्थात् वह रूपी पदार्थ को ही प्रत्यक्ष जानता है और मनःपर्ययज्ञान भी उसके अनन्तवें भाग को जानता है ; पर अवधिज्ञान की अपेक्षा उसमें निर्मलता अधिक होती है, वह भी विकलप्रत्यक्ष है। साधक का उपयोग जब आत्मा की ओर होता है, तब उसे मति-श्रुतज्ञान होते हैं, अवधि या मनःपर्ययज्ञान का व्यापार उस समय नहीं होता। अवधि और मनःपर्ययज्ञान तो परविषयों को ही जानते है और उनमें भी रूपीपदार्थों को ही जानते हैं। मनःपर्यय यद्यपि मन सम्बन्धी सूक्ष्म परिणामों को भी प्रत्यक्ष जानता है, किन्तु वे परिणाम रूपी मन के सम्बन्ध में होने से उन्हें यहाँ मूर्त माना गया है। इसप्रकार अवधि और मनःपर्ययज्ञान आंशिक प्रत्यक्ष है। मनःपर्ययज्ञान तो किन्हीं विशिष्ट मुनियों को ही होता है ; उसमें महान सामर्थ्य है; तथापि वह भी एकदेश-प्रत्यक्ष है। केवलज्ञान सकल-प्रत्यक्ष है और अवधि, मनःपर्ययज्ञान विकल-प्रत्यक्ष हैं। मनःपर्ययज्ञान का विषय अवधिज्ञान की अपेक्षा अल्प है, परन्तु वह अवधिज्ञान की अपेक्षा अनन्तगुनी सूक्ष्मता को भी जान सकता है।

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान दोनों परमार्थतः परोक्ष हैं और व्यवहार से प्रत्यक्ष हैं। यहाँ पर-विषयों की अपेक्षा से मति-श्रुतज्ञान को परोक्ष कहा है– ऐसा जानना। स्व-विषय की अपेक्षा से तो मति-श्रुतज्ञान भी वास्तव में प्रत्यक्ष हैं। पर-विषयों को इन्द्रिय और मन के अवलम्बनपूर्वक अस्पष्ट जानते हैं, इसलिये उन ज्ञानों को परोक्ष कहा है और व्यवहार से इन्द्रियाँ प्रत्यक्ष जानती हैं, इस अपेक्षा व्यवहार से प्रत्यक्ष कहा है। किन्तु इन्द्रियों द्वारा जो प्रत्यक्ष हुआ वह वास्तव में प्रत्यक्ष नहीं, किन्तु परोक्ष ही है; इसलिये निश्चय से वे मति-श्रुतज्ञान पर को परोक्ष ही जानते हैं और स्व-विषय को स्व-संवेदनपूर्वक प्रत्यक्ष जानते हैं, स्व-विषय को जानने में इन्द्रियों का तथा मन का अवलम्बन नहीं है।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान होते समय मति-श्रुतज्ञान में आत्मा को जो स्वसंवेदन होता है, उसे प्रत्यक्ष कहा जाता है। आत्मवेदन में तो सम्यक्त्वी के मति-श्रुतज्ञान भी अतीन्द्रिय हैं, प्रत्यक्ष हैं। निर्विकल्प अनुभव में मति-श्रुतज्ञान द्वारा आत्मा का प्रत्यक्ष संवेदन हुए बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता। चौथे गुणस्थान में गृहस्थदशा में विद्यमान अविरत सम्यग्दृष्टि को भी निर्विकल्प अनुभवरूप स्व-संवेदन दशा में मति-श्रुतज्ञान प्रत्यक्ष है। पंचाध्यायी आदि में भी यह बात स्पष्ट की है।

मति-श्रुतज्ञान परविषयों को जानने में इन्द्रिय तथा मन के अवलम्बन-पूर्वक वर्तते हैं और वह भी अस्पष्ट जानते हैं; इसलिये उन्हें परोक्ष कहा है। वहाँ अज्ञानी जीव इन्द्रियों के कारण ही उस ज्ञान का होना मान लेता है। उसकी इस मान्यता का खण्डन वीरसेन स्वामी ने जयधवला में अत्यन्त सरस युक्ति से किया है। वहाँ तो कहते हैं कि यदि इन्द्रियों से ज्ञान की उत्पत्ति होना मानोगे तो आत्मा के अभाव का प्रसंग आयेगा।

शंकाकार कहता है कि इन्द्रियों से उत्पन्न होने के कारण मतिज्ञानादि को केवलज्ञान नहीं कहा जा सकता।

उसके समाधान में कहते हैं कि ऐसा नहीं है ; मतिज्ञानादि इन्द्रियों से उत्पन्न नहीं होते, किन्तु वे सामान्यज्ञान में से ही विशेषज्ञानरूप उत्पन्न होते हैं। यदि ज्ञान का इन्द्रियों से उत्पन्न होना मान लिया जाये तो इन्द्रिय-व्यापार से पहले जीव के गुणस्वरूप ज्ञान का अभाव हो जाने से गुणी ऐसे जीव के भी अभाव का प्रसंग आता है।

तब शंकाकार पुनः तर्क करता है कि इन्द्रिय-व्यापार से पूर्व जीव में ज्ञानसामान्य रहता है, ज्ञानविशेष नहीं रहता ; ज्ञानविशेष तो इन्द्रियों के व्यापार द्वारा होता है। —इसप्रकार जीव का अभाव नहीं होता।

उसके समाधान में कहते हैं कि ऐसा भी नहीं है; क्योंकि ज्ञान-सामान्य से ज्ञानविशेष पृथक् नहीं है। जीव का ज्ञानस्वभाव स्वयं ही विशेषरूप से परिणमित होकर विशेषज्ञान होता है ; इन्द्रियों के कारण विशेषज्ञान नहीं होता।

वहाँ 'कषायप्राभृत' में प्रकरण तो केवलज्ञान की सिद्धि का है। वहाँ अन्तर की अलौकिक युक्ति देकर आचार्य भगवान केवलज्ञान को सिद्ध करते हुए कहते हैं कि केवलज्ञान असिद्ध नहीं है ; क्योंकि स्वसंवेदनप्रत्यक्ष द्वारा केवलज्ञान के अंशरूप ज्ञान की निर्वाधरूप से उपलब्धि होती है। मति-श्रुतज्ञान केवलज्ञान के अंशरूप है और उसकी उपलब्धि स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से सबको होती है। इसलिये केवलज्ञान के अंशरूप अवयवों के प्रत्यक्ष होने से केवलज्ञानरूप अवयवी को परोक्ष कहना युक्त नहीं है; क्योंकि ऐसा मानने से चक्षु द्वारा जिसका एक भाग प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हो रहा है — ऐसे स्तम्भ की भी परोक्षता का प्रसंग आ जाता है। अहो ! मतिज्ञान के स्वसंवेदन में केवलज्ञान का विरह नहीं है, मतिज्ञान की संधि केवलज्ञान के साथ है ; मतिज्ञान का स्वसंवेदन प्रत्यक्ष हुआ, वहाँ केवलज्ञान भी प्रत्यक्ष हो गया। देखो, यह सन्तों की वाणी ! सन्तों ने पंचमकाल में केवलज्ञान का विरह भुला दिया है।

मति-श्रुतज्ञान को परोक्ष कहने पर भी वे ज्ञान कहीं इन्द्रियों से नहीं होते ; वे भी स्वयं से ही होते हैं । देखो, व्यंजनावग्रह मतिज्ञान का छोटे से छोटा प्रकार है, वह भी स्वयं से ही होता है । इन्द्रियों से या शब्दों से ज्ञान होता है – यह तो स्थूल भूल है । यहाँ तो एकदम अंतरंग गहराई की बात है । यहाँ तो ज्ञान का मूल कारण बतलाया है, केवलज्ञान का मूल बतलाया है । अहो ! परिपूर्ण सामर्थ्यरूप से सदैव प्रवर्तमान स्वरूपप्रत्यक्षज्ञान ही मेरे केवलज्ञान का कारण है – ऐसा जो जानता है, वह इन्द्रियादि को अपने ज्ञान का कारण नहीं मानता ; इसलिये उसे परोक्षता दूर होकर स्वरूपप्रत्यक्षज्ञान के आधार से सकलप्रत्यक्ष केवलज्ञान प्रगट हो जाता है ।

इसप्रकार ज्ञान के प्रत्यक्ष एवं परोक्षपने का वर्णन किया । अब इन ज्ञानों में से कौन-सा ज्ञान आदरणीय है, सो आगे कहेंगे ।

यह नियमसार की ११वीं १२वीं गाथा चल रही हैं ; उसमें आत्मा उपयोगस्वरूप है उसके ज्ञानोपयोग के प्रकार कहे, फिर उनमें से कौन से प्रकार किसे होते है – यह कहा और पश्चात् उसमें प्रत्यक्ष परोक्षपने का वर्णन किया ।

"तथा विशेष यह है कि उपरोक्त ज्ञानों में साक्षात् मोक्ष का मूल निज परमतत्व में स्थित ऐसा एक सहजज्ञान ही है; तथा वह सहजज्ञान अपने पारिणामिकभावरूप स्वभाव के कारण भव्य का परमस्वभाव होने से, सहजज्ञान के सिवा अन्य कुछ उपादेय नहीं है ।"

देखो, यह उपादेयतत्व का वर्णन ! उपादेय क्या है कि जिसके आश्रय से मुक्ति हो । जड़ देहादि की क्रिया/राग तो उपादेय नहीं है और ज्ञानादिक क्षणिकभाव भी उपादेय नहीं है अर्थात् वे आश्रय करने योग्य नहीं हैं; क्यों कि उनका आश्रय करने से राग होता है, मुक्ति नहीं होती । आत्मा के परमस्वभावरूप जो सहजज्ञान हैं वही उपादेय है; उसके आश्रय से केवलज्ञान और मोक्षदशा प्रगट होती है; इसलिए वही मोक्ष का मूल है और वह ज्ञान आत्मा के परमतत्व में सदैव वर्त रहा है ।

यहाँ तो महामुनिराज स्पष्ट कहते हैं कि अहो ! ऐसे ज्ञान के सिवा अन्य कुछ भी उपादेय नहीं है। इस सहजज्ञान का आश्रय करना ही साक्षात् मोक्ष का मूल है और व्यवहार का, राग का, निमित्त का आश्रय करना वह मोक्ष का कारण नहीं; किन्तु संसार का कारण है।

यहाँ सहजज्ञान को ही मोक्ष का मूल कारण कहा है, क्योंकि उसमें लीनता से ही मोक्ष होता है। उससे नीचे के जो चार ज्ञान हैं, उन्हें मोक्ष का कारण नहीं कहा; क्योंकि उनका तो अभाव होकर केवलज्ञान होता है। इसलिये वे परमार्थतः मोक्ष के कारण नहीं है और केवलज्ञान तो स्वयं मोक्षस्वरूप है; परन्तु साधक को यह केवलज्ञान नहीं होता। सहजज्ञान सदैव पारिणामिक स्वभाव से वर्त रहा है, वह त्रिकाल मोक्षस्वरूप है और उसमें लीन होने से पर्याय में मोक्षदशा प्रगट हो जाती है। इसप्रकार मोक्ष का मूल ऐसा यह सहजज्ञान ही उपादेय है।

वीतरागी मुनिराज उपदेश देते हैं कि हे भव्य ! यह सहजज्ञान तेरा परमस्वभाव है; इसलिये अन्तर्मुख होकर उसी को तू उपादेय कर ! वह सहजज्ञान तेरा पारिणामिक स्वभाव है, वह कभी तुझसे पृथक् नहीं होता। जिसका कभी विरह नहीं है, ऐसा यह स्वरूपप्रत्यक्ष सहजज्ञान ही साक्षात् मोक्ष का मूल है। वर्तमान दशा में केवलज्ञान तो है नहीं, वह तो प्रगट करना है, साधक को सम्यक् मति-श्रुतज्ञान है, वह परम्परा मोक्ष का कारण है; किन्तु वह साक्षात् मोक्ष का कारण नहीं है। तो साक्षात् मोक्ष के कारणरूप से कौन-सा ज्ञान विद्यमान है — वह यहाँ बतलाते है।

पारिणामिकभाव से आत्मा के निजतत्व में त्रिकाल लवलीन वर्तता हुआ ऐसा सहजज्ञान ही मोक्ष का साक्षात् कारण है, इसलिये वही उपादेय है। जिसप्रकार निश्चय- व्यवहार के अनेक पक्षों को जानकर उसमें शुद्धनिश्चय ही उपादेय है; उसीप्रकार यहाँ ज्ञान के अनेक प्रकार बतलाकर मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव कहते हैं कि ज्ञान के समस्त प्रकारों में यह परमस्वभावरूप सहजज्ञान ही उपादेय है; इसके अतिरिक्त अन्य कुछ उपादेय

नहीं है। ज्ञान के क्षणिकभाव उपादेय नहीं है, किन्तु ज्ञान का एक ऐसा सहजभाव जो कि सदैव सदृशरूप वर्तता है, ध्रुवरूप है, परमस्वभावरूप है; ऐसा परमस्वभाव ही उपादेय है ।

इस समय यहाँ ज्ञान का वर्णन चल रहा है, इसलिये उसकी बात की है; किन्तु उस ज्ञान की भाँति श्रद्धा-आनन्दादि सर्वगुणों में भी जो सहजस्वभावरूप भाव वर्तता है, वही परम उपादेय है – ऐसा समझना। आत्मा के ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, चारित्र आदि समस्त गुणों में अपना-अपना सहजभाव एकरूप सदृश परिणति से अनादि-अनंत वर्त रहा है और वह 'वर्तमान वर्तता हुआ सहजभाव' ही उस-उस गुण की पूर्णदशा का देनेवाला है।

चौथे गुणस्थान में सम्यग्दर्शन होने पर जो सहज आनन्द का वेदन हुआ तथा तेरहवें गुणस्थान में वैसे ही परिपूर्ण आनन्द का वेदन हुआ, उस आनंद का देने वाला कौन ? 'आनन्द' का जो सदा एकरूप सहजभाव वर्तता है, वही प्रगट आनंद का देनेवाला है। आनन्द का जो यह सहजभाव त्रिकाल वर्तता है वह स्वयं वेदनरूप नहीं है, शक्तिरूप है; किन्तु उसके आश्रय से आनन्द का वेदन नवीन प्रगट होता है, इसलिये वह सहजभाव आनन्द का मूल है।

इसीप्रकार ज्ञान व आनंद की भाँति श्रद्धा आदि समस्त गुणों में भी समझ लेना चाहिए। आत्मा का ऐसा सहजस्वभाव ही उपादेय है। अहो ! यह कोई अद्‌भुत बात है, जिसके अंतर में यह सहजस्वभाव की महिमा आ गई, उसके आत्मा में मोक्ष का बीजारोपण हो गया।

आत्मा में पारिणामिकभाव से स्थित, सहजभाव से सदा वर्तता हुआ ऐसा स्वरूपप्रत्यक्ष ज्ञान वह मोक्ष का मूल है, वह स्वयं मोक्षमार्गरूप नहीं है; किन्तु उसका आश्रय करने से मोक्षमार्ग तथा मोक्षपर्याय प्रगट हो जाती है। मतिज्ञान के अथवा केवलज्ञान के समय भी वह सदा एकरूप वर्तता है, उसका परिणमन सदृशरूप है, उसमें हीनाधिकता नहीं होती। परिणमन होने पर भी

वह कार्यरूप नहीं है, किन्तु त्रैकालिक शक्तिरूप, कारणरूप है। 'परिणमन' कहकर यहाँ उत्पादव्यय सूचित नहीं करना है, किन्तु उसका प्रतिसमय विद्यमानपना सूचित करना है।

अहो ! मुनियों के आत्मा से जो अमृत झरा है, यह अचिन्त्य एवं अपूर्व बात है। भारतवर्ष के लिये इस समय यह बात बिल्कुल नई है, जिसका महाभाग्य हो उसे यह बात सुनने को मिलती है और जिसके अन्दर में यह बात जम गई, उसका तो पूछना ही क्या, उसका तो बेड़ा पार हो गया।

यह तो अन्तर के सूक्ष्म रहस्य की बात है, इसमें दृष्टान्त भी क्या दिया जाये। दृष्टान्त देकर समझाने से स्थूलता हो जाती है, तथापि साधारणरूप से लैंडी पीपर के दृष्टान्त से समझ सकते हैं।

जिसप्रकार लैंडी पीपल का चरपरा स्वभाव है ; उस स्वभाव का, चौसंठपुटी चरपराहट की शक्तिरूप परिणमन तो सदैव चल ही रहा है। व्यक्तरूप में भले एकपुटी चरपराहट हो अथवा चौंसठपुटी हो; चौंसठपुटी चरपराहट की शक्ति तो परिणमित हो ही रही है । पुद्गलों में जो रसगुण है, वह तो सामान्य है; किन्तु लैंडी पीपल में जो चौंसठपुटी चरपराहट की शक्तिरूप परिणमन है, वह तो एक मुख्यभाव है।

उसीप्रकार आत्मा में ज्ञानस्वभाव है, उस ज्ञानस्वभाव में सर्वज्ञता की शक्तिरूप परिणमन तो सदैव चल ही रहा है। यदि वह शक्तिरूप परिणमन न हो तो सर्वज्ञता की व्यक्ति कहाँ से होगी ? यहाँ, वर्तमान कार्य का आधार भी वर्तमान ही है - ऐसा बतलाना है।

व्यक्तरूप में भले मतिज्ञान हो या केवलज्ञान हो, किन्तु सर्वज्ञता की शक्ति तो ज्ञान में परिणमित हो ही रही है। ज्ञानगुण को त्रिकाल सामान्य लेना चाहिये और उस ज्ञान में सर्वज्ञता की कारणरूप शक्ति वर्तमान में भी वर्त रही है, वह यहाँ बतलाना है। ज्ञान का यह सहजभाव सदा परिणमनरूप से वर्त ही रहा है। पर्याय के उत्पादव्ययरूप जो परिणमन है - यह बात उसकी

नहीं समझना चाहिये, किन्तु ज्ञान का सहजभाव जो सदा सदृशरूप से वर्तता है, यह उसकी बात है।

भव्यजीवों को यह सहजज्ञान ही उपादेय है; आत्मा के परमपारिणामिक स्वभावरूप ऐसे इस सहजज्ञान के अतिरिक्त अन्य कुछ वास्तव में उपादेय नहीं है। यदि केवलज्ञानपर्याय को उपादेय माना जाये तो वह पर्याय तो वर्तमान में स्वयं को है नहीं, तो फिर दृष्टि को कहाँ स्थिर करेगा ? केवलज्ञान का जो आधार है, ऐसा वर्तमान सहजस्वभावरूप उपयोग, जो कि इस समय भी एकरूप परिपूर्ण सामर्थ्य सहित वर्त रहा है, उस पर दृष्टि लगाना योग्य है; उस पर दृष्टि स्थिर करने से साधकदशा होकर केवलज्ञान विकसित हो जाता है। इसप्रकार यह सहजज्ञान ही मोक्ष का मूल होने से उपादेय है।

देखो, यह मोक्ष का मूल !

शरीरादि तो जड़ हैं, पुण्य-पाप विकार हैं और मतिश्रुतज्ञान अपूर्ण हैं; इन किन्हीं में ऐसी शक्ति नहीं है कि मोक्षपद दे सकें, इसलिए ये कोई भी मोक्ष के मूल नहीं हैं। अतः केवलज्ञान पर्याय के ऊपर दृष्टि लगायें तो स्वयं को वह पर्याय तो है नहीं, इसलिये 'केवलज्ञान नहीं है और प्रगट करूं' - ऐसी आकुलता होती है; चूंकि आकुलता तो केवलज्ञान को रोकने वाली है; इसलिये केवलज्ञान पर्याय पर दृष्टि लगाना भी केवलज्ञान का उपाय नहीं है अर्थात् वह भी मोक्ष का मूल नहीं हैं।

तो फिर दृष्टि कहाँ स्थिर की जाये ?

तो कहते है कि तेरे ज्ञान के ध्रुव आधाररूप तेरा सहजज्ञानस्वभाव इस समय भी तुझमें वर्त रहा है और वही मोक्ष का मूल है; इसलिये उसी पर दृष्टि लगा ! उस पर दृष्टि लगाने से तेरा केवलज्ञान विकसित हो जायेगा।

अहो ! जो इसे समझ ले, उसकी बुद्धि अन्तर्स्वभावोन्मुख हो जाती है, फिर उसकी बुद्धि में अन्तर्स्वभाव के अतिरिक्त जड़ की क्रिया का, राग का या अपूर्णदशा का आदर नहीं रहता। जिसने ऐसे अन्तर्स्वरूप को ही

उपादेयरूप से स्वीकार किया, वह केवलज्ञान के पथ पर आ गया है, अब अल्पकाल में वह केवलज्ञान प्राप्त कर लेगा।

जड़ की तथा विकार की बात तो कहीं दूर रह गई, किन्तु सम्यक् मतिश्रुतज्ञान को केवलज्ञान का कारण कहना भी व्यवहार से है ! परमार्थतः तो त्रिकाली कारणस्वभावज्ञान ही केवलज्ञान का कारण है और वही मोक्ष का मूल होने से परम-उपादेय है।

सम्यग्दर्शन को मोक्ष का मूल कहा जाता है, वह भी पर्याय अपेक्षा से, व्यवहार से है; एकबार भी जिसने सम्यग्दर्शन प्रगट कर लिया, वह जीव अल्पकाल में अवश्य मोक्ष प्राप्त करेगा - इसप्रकार सम्यग्दर्शन की महिमा समझाने के लिये उसे मोक्ष का मूल कहा जाता है।

किन्तु वह सम्यग्दर्शन होता कब है ?

तो कहते हैं कि आत्मा के सहजज्ञानरूप परमस्वभाव को उपादेय करने से ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र और मोक्ष होता है; इसलिये वह परमस्वभाव ही मोक्ष का मूल है - ऐसा जानना; तथा मोक्ष की भाँति सम्यग्दर्शनादि का मूल भी वही है - ऐसा समझना।

देखो, यह मूल कारण की बात ! शास्त्रों में व्यवहार कारणों के अनेक कथन आते हैं, वहाँ उनके आश्रय से ही जो लाभ होना मानता हो, उसके पांडित्य पर पानी फिर जाये - यह ऐसी बात है। जहाँ अन्तर के ज्ञायकत्व पर दृष्टि गई, वहाँ समस्त बाह्यकारणों पर पानी फिर जाता है अर्थात् कोई भी बाह्यकारण अपने कारणरूप दिखाई नहीं देता। तिर्यंच मेंढक का जीव हो या आठ वर्ष के बालक का जीव हो; अन्तर्स्वरूप के अवलम्बन से जहाँ सम्यग्दर्शन हुआ, वहाँ उसे ऐसा भान होता है कि अहो ! अन्तरंग में यह मेरा सहजस्वभाव ही मेरे सम्यग्दर्शनादि का कारण है और यही मुझे सर्वथा उपादेय है, अन्य कोई कारण मुझे उपादेय नही हैं।

अज्ञानी जीव कारण-कारण करते है; "निमित्त कारण से होता है और व्यवहार कारण से होता है" - ऐसा मानकर पराश्रयबुद्धि से भव-भव में भटकते हैं। यहाँ वीतरागी संतो ने अन्तर का ध्रुवकारण बतलाकर समस्त बाह्यकारणों के अवलम्बन को उड़ा दिया है और अन्तर में मोक्ष का मूल कारण बतलाकर उसका अवलंबन कराया है।

अहो! अद्‌भुत बात कही है, अन्तर में ऐसे कारण के सेवन से सिद्धपद को साधते- साधते यह रचना हुई है। 'अहो ! यह मेरे सिद्धपद का कारण।' इसप्रकार कारण के प्रति अचिन्त्य आल्हाद प्रगट किया है। उसके अवलम्बन से कार्य सध रहा है। कार्य के बिना कारण की महिमा ज्ञात नहीं होती। जिसप्रकार लैंडी पीपल की एकपुटी चरपराहट का स्वाद चख ले तो मालूम हो कि ऐसी चौंसठपुटी (परिपूर्ण) चरपराहट प्रगट होने की शक्ति भी इस लैंडी पीपल में भरी है; उसीप्रकार जिसने अन्तर्मुख होकर सम्यग्दर्शनरूप कार्य प्रगट किया और आत्मा के आनन्द का किंचित् स्वाद चखा, वहाँ उसे उसके कारण की अचिन्त्य महिमा ज्ञात हो गई कि अहो ! ऐसे परिपूर्ण आनन्द का कारण मेरा आत्मा ही है, मेरे आत्मा में ऐसे आनन्द का कारण सदैव वर्त रहा है और यही मुझे उपादेय है।

मोक्ष का मूल ऐसा सहजज्ञान त्रिकाल पारिणामिकभावरूप स्वभाववाला है; केवलज्ञान क्षायिकभावरूप है, मतिज्ञानादि क्षायोपशमिकभावरूप है और यह स्वरूपप्रत्यक्ष सहजज्ञान तो पारिणामिकभावरूप है। तथा यह भव्य का परमस्वभाव होने से यही उपादेय है। भव्य को उसका भान होता है और अभव्य को ऐसे स्वभाव का भान नहीं होता। इसलिये 'भव्य का परमस्वभाव है' - ऐसा कहा।

जिसप्रकार मेरूपर्वत के नीचे सुवर्ण है, लेकिन वह किस काम का? उसीप्रकार अभव्य को भी ऐसा स्वभाव तो है, किन्तु भान के बिना वह किस काम का? कारण तो है, किन्तु मिथ्यादृष्टि उसका अवलम्बन लेकर कार्य प्रगट नहीं करता। कारण के अवलम्बन से कार्य होता है। सम्यग्दृष्टि को

अपने परमपारिणामिक स्वभावरूप जो सहजज्ञान है, वही उपादेय है, इसके अतिरिक्त सम्यग्दृष्टि अन्य किसी को उपादेय नहीं मानते ।

जो जीव परमानन्द के अभिलाषी हों, जो आत्मार्थी हों, जो मोक्षार्थी हों- वे अपने एक परमस्वभाव को ही उपादेयपने स्वीकार करते हैं, उसमें से - अन्तर्स्वभाव की खान में से ही सम्यग्दर्शनादि रत्न निकलते हैं, इसलिये वही उपादेय है ।

ज्ञान-आनन्द के सहजविलासरूप इस परमार्थस्वभाव के अतिरिक्त अन्य कुछ धर्मी को उपादेय नहीं है ।

इसप्रकार ज्ञान के प्रकारों में नित्य परमस्वभावरूप सहजज्ञान का उपादेय बतलाया । अब आगे कहेंगे कि "उस सहजज्ञान के विलासरूप से ही आत्मा को भाना चाहिये ।"

आत्मा के परमस्वभावरूप सहजज्ञान की परममहिमा बतलाकर तथा वही उपादेय है - ऐसा समझाकर अब कहते हैं कि -

"इस सहज चिद्विलासरूप से सदा सहज परमवीतराग सुखामृत, अप्रतिहत निरावरण परम चित्शक्ति का रूप, सदा अन्तर्मुख ऐसा स्वस्वरूप में अविचल स्थितिरूप सहज परमचारित्र और त्रिकाल अविच्छिन्न होने से सदा निकट ऐसी परमचैतन्यरूप की श्रद्धा-ऐसे स्वभाव - अनन्तचतुष्टय से आत्मा सनाथ है, और अनाथ ऐसी मुक्तिसुन्दरी का नाथ है । ऐसे आत्मा को सहजज्ञान के विलासरूप से भाना चाहिये ।"

यहाँ जो सुख, वीर्य, चारित्र और श्रद्धा - इस चतुष्टय की बात की है, वह त्रिकाल की बात है । आत्मा को 'सहज चिद्विलासरूप' कहकर ज्ञान की बात तो पहले ही ली है और स्वभाव - अनंतचतुष्टय में आनन्द को सदा वीतराग कहा, चित्शक्तिरूप बल को अप्रतिहत निरावरण कहा, चारित्र को सदा अंतर्मुख स्वस्वरूप में अविचल स्थितिरूप कहा और श्रद्धा को त्रिकाल अविच्छिन्नरूप से सदा निकट बतलाया है ।

- ऐसे स्वभावचतुष्टय से जो सनाथ है और मुक्तिसुन्दरी का नाथ है,

ऐसे भगवान आत्मा को सहजचैतन्यविलासरूप से भाना चाहिये। यह 'भावना' सो मोक्षमार्ग है; भावना में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों आ जाते हैं और ऐसी भावना से ही भव का अभाव होता है।

देखो, यह मोक्ष की भावना ! जिसे आत्मा की मोक्षदशा प्रगट करना हो, उसे ऐसे आत्मा को ही भाना चाहिये; जड़ की क्रिया के विलासरूप से आत्मा को नहीं भाना चाहिए, राग के विलासरूप से आत्मा को नहीं भाना चाहिये तथा अल्पज्ञता के विलासरूप से आत्मा को नहीं भाना चाहिये; किन्तु अनन्तचतुष्टयसहित सहजज्ञान के विलासरूप से सदा आत्मा को भाना चाहिये। आत्मा सहजज्ञान के विलासरूप सदा कारण चतुष्टयसहित विराजमान है, उसकी भावना करने से कार्यचतुष्टय प्रगट होता है। कारण की भावना से कार्य होता है। यहाँ कारणरूप जो सहजज्ञान, उसके विलास के साथ स्वभाव-चतुष्टय को मिला कर उस चतुष्टय सहित आत्मा की भावना करने को कहा है, उसका फल मुक्ति है।

देखो, यह सहजचैतन्य का विलास ! इसी में आत्मा का सच्चा विलास है; इस विलास में ही आत्मा का आनन्द है। बाह्य विलास में तो दुख है और आत्मा के विलास में आनन्द है। चैतन्यमूर्ति आत्मा का यह त्रिकालीविलास अमृतमय है, आनन्दमय है, उसी में आत्मा की मौज है; इसीजिये उसी की भावना चाहिये - ऐसा संतो का उपदेश है।

जड़ का विलास भिन्न है, विकार का विलास दुःखरूप है और पर्याय का विलास क्षणिक है।

आत्मा के सहजचैतन्य का विलास आनन्दमय है, ध्रुव है, सदा अपने से अभिन्न है; इसलिये उस विलासरूप से आत्मा की भावना भाना चाहिये। परमपारिणामिकभाव से त्रिकाल विलसित आत्मा ही सम्यग्दर्शन का ध्येय है, उसी के आश्रय से सम्यग्दर्शनादि होते हैं। ऐसा जो चैतन्य का सहज विलास है, उसे कभी आवरण नहीं है, उसमें कोई बाधा नहीं है, पीड़ा नहीं है,

दुःख नहीं है; वह सदा निरावरण है, निर्बाध है, अविच्छिन्नधारारूप है, अमृतमय है, आनन्दमय है, वीतरागस्वरूप है। अहो ! ऐसे आत्मा की भावना ही धर्मात्मा का कर्तव्य है।

अहो ! इस शास्त्र में कैसी अलौकिक बात भरी है। देखो, यह भागवत शास्त्र है। भीतर ध्रुवस्वभाव पूर्ण आनन्द से सदा भरपूर है, उसी पर शास्त्रकार संतो ने दृष्टि लगाई है। जिसने ऐसे त्रिकाली परम सत् का आदर किया, उसे स्वप्न में भी असत् का (रागादि व्यवहार का) आदर नहीं होता।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप निश्चयमोक्षमार्ग कैसे प्रगट होता है ?

तो कहते हैं कि वह आत्मस्वभाव के अवलम्बन से प्रगट होता है; इसलिये आत्मा का परमस्वभाव ही मोक्ष का निश्चयकारण है और निश्चय रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग मोक्ष का व्यवहार कारण है।

आत्मा सहजज्ञान के विलासरूप है; उसका विलास सदा आनन्दरूप है। सम्यग्दर्शन होने पर या केवलज्ञान होने पर जो आनन्द का वेदन हुआ, वह आनन्द कहाँ से आया? परम वीतराग आनन्द के साथ आत्मा सदा एकमेक है, उसी में से आनन्द प्रगट हुआ है। इसीप्रकार परमचैतन्यशक्तिरूप वीर्य भी आत्मा में अप्रतिहतरूप से त्रिकाल निरावरण है, वही पूर्ण आत्मबल का देने वाला है, और यथाख्यातचारित्र का देनेवाला परमचारित्र आत्मा में सदा अन्तर्मुख से वर्त ही रहा है तथा श्रद्धा भी त्रिकाल अविच्छिन्नरूप से आत्मा में सदा निकट विद्यमान है, उसका कभी विरह नहीं है; वह निकटवर्ती श्रद्धा-शक्ति ही सम्यक्त्व की देनेवाली है।

इसप्रकार भगवान आत्मा अनन्तचतुष्टय का नाथ है। उस अनन्तचतुष्टय के नाथ को सहजज्ञानरूप से विलसित भाना चाहिये। ऐसे स्वभाव की भावना वह मोक्षमार्ग है और उसका फल मोक्ष है। इसप्रकार अनन्तचतुष्टय के नाथ भगवान आत्मा को सहजज्ञान के विलासरूप से भाने का संतों का उपदेश है।

नियमसार गाथा ११-१२ की टीका में 'ब्रह्मोपदेश' करके श्री पद्मप्रभमलधारिदेव ने आत्मा का परमज्ञानस्वभाव बतलाया और ऐसे सहज चैतन्यविलास रूप से आत्मा की भावना करने को कहा।

ऐसी आत्मभावना का विशेष प्रमोद आने पर इसके आगे मुनिराज पाँच कलशों द्वारा उस आत्मभावना का फल तथा उसकी महिमा बतलाते हैं।

हे भव्यजीवों ! ज्ञान के प्रकार जानकर तुम भेदज्ञान प्रगट करो; समस्त शुभ-अशुभ को संसार का कारण जानकर अत्यन्तरूप से छोड़ो और सहज ज्ञानस्वभाव की भावना करो। सहज ज्ञानस्वभाव की भावना द्वारा पुण्य-पाप से अतिक्रान्त अर्थात् समस्त शुभाशुभ भाव से दूर जाकर अंतरस्वरूप में स्थिर होने पर भव्यजीव परिपूर्ण शाश्वत सुख को प्राप्त करता है। यही सहजज्ञानस्वरूप आत्मा की भावना का फल है।

देखो, यह ध्रुवपद प्राप्त करने का उपाय ! अन्य मत में कहा जाता है कि भगवान ने ध्रुव को ध्रुवपद प्रदान किया। वास्तव में यहाँ ध्रुवपद देने वाला अन्य कोई भगवान नहीं है, किन्तु ध्रुव ऐसा जो निज कारणपरमात्मा, उसका ध्यान करने से यह स्वयं अपने आपको ध्रुवपद (मोक्षपद) प्रदान करता है; इसलिये बुधपुरुषों को अन्तर में आनन्द से परिपूर्ण ऐसे ज्ञानस्वरूप आत्मा को भाना चाहिए।

जिसप्रकार पिता अपने पुत्र को सम्पत्ति का उत्तराधिकार सौंपता है, उसीप्रकार परमपिता तीर्थंकर एवं संतमुनि जिज्ञासु भव्यजीवों को यह चैतन्य-निधान का उत्तराधिकार दे रहे हैं।

ज्ञान के अनेक भेद कहे; उन्हें जानकर क्या करना ? तो कहते हैं कि भेद के अवलम्बन में नहीं अटकना चाहिये; ज्ञान के क्षणिक भेदों जितना आत्मा नहीं है; 'आत्मा त्रिकाली सहज ज्ञानस्वरूप है' — ऐसा जानकर उस सहज ज्ञानस्वरूप से आत्मा को भरने से अपूर्व भेदज्ञान होता है और संसार के मूल का छेद हो जाता है। शुभकार्य को भी यहाँ संसार का मूल कहा है, उस शुभ में रहकर मोक्षसुख प्राप्त नहीं किया जा सकता; किन्तु उस शुभ को पार करने से मोक्ष की प्राप्ती होती है। इसलिये शुभाशुभ से पार ऐसे चैतन्यस्वरूप आत्मा को भाना चाहिऐ।

इसप्रकार भेदज्ञान द्वारा आत्मा की भावना करने से मोह निर्मूल होकर केवलज्ञानज्योति प्रगट होती है। यहाँ मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव बहुमानपूर्वक कहते हैं कि अहो ! भेदज्ञानरूपी वृक्ष का यह सत्फल वंदनीय है और जगत को मंगलरूप है।

देखो, यह केवलज्ञान की महिमा ! भेदज्ञानरूपी वृक्ष को आत्मा की भावना रूपी पानी पिलाते-पिलाते यह केवलज्ञानरूपी फल पके हैं। यह केवलज्ञान आत्मा को तो मंगलरूप है ही और जगत को भी मंगलरूप ही है; क्योंकि जगत के जो जीव ऐसे केवलज्ञान का स्वरूप लक्ष में लेते हैं, उन जीवों का ज्ञान राग से भिन्न होकर ज्ञानस्वभाव में पहुँच जाता है और ज्ञानस्वभाव के आश्रय से उन्हें भेदज्ञानरूप अपूर्व मंगल प्रगट होता है। — इसप्रकार केवलज्ञानरूपी सुप्रभात जगत को मंगलरूप है, वंद्य है, पूज्य है, आदरणीय है।

अब केवलज्ञानरूप कार्य के साथ उसके कारण को भी याद करके कहते हैं कि सहजज्ञान मोक्ष में जयवंत वर्तता है। मोक्षदशा में केवलज्ञान तो जयवंत वर्तता ही है; उसके साथ उसके कारणरूप ऐसा सहजज्ञान भी जयवंत वर्तता है। कार्य और कारण का एक साथ ही वर्णन करना — यह टीकाकार की मूल शैली है। इसमें मार्ग और मार्गफल दोनों बतला दिये हैं। सहजज्ञानस्वरूप की भावना करने को कहा, वह मार्ग है और केवलज्ञान प्रगट हुआ, वह मार्ग का फल है।

ज्ञान और आनन्द - सुख का अविनाभावी सम्बन्ध है। ज्ञान आनन्द में विस्तार करनेवाला है। केवलज्ञान सम्पूर्ण आनन्द में विस्तारवाला है और सहजज्ञान त्रिकाल आनन्द में विस्तारवाला है; साधक का सम्यग्ज्ञान भी अंशत: आनन्द में विस्तारवाला है। इसप्रकार ज्ञान के साथ अतीन्द्रिय आनन्द होता है। जिस ज्ञान के साथ अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन न हो वह ज्ञान वास्तव में ज्ञान नहीं, किन्तु अज्ञान है।

ज्ञान के अनेक प्रकारों को जानकर क्या करना चाहिये ? तो मुनिराज कहते हैं कि 'सहजज्ञानरूपी साम्राज्य जिसका सर्वस्व है' — ऐसे शुद्ध चैतन्यमय आत्मा को जानकर, 'मैं निर्विकल्प होता हूँ' — ऐसा अनुभव करना चाहिए।

इसप्रकार जीव के ज्ञानोपयोग सम्बन्धी वर्णन पूर्ण हुआ। ●

तह दंसण उवओगो ससहावेदरवियप्पदो दुविहो ।
केवलमिंदिरहियं असहायं तं सहावमिदि भणिदं ॥ १३ ॥

जिसप्रकार ज्ञानोपयोग स्वभाव और विभाव — ऐसे दो प्रकार का कहा है, उसीप्रकार यह दर्शनोपयोग भी स्वभाव और विभाव - ऐसे दो प्रकार का है, जो केवल इन्द्रियरहित और असहाय है, वह स्वभाव-दर्शनोपयोग है ।

चैतन्य-अनुविधायी परिणाम, सो उपयोग है । ज्ञान की भाँति यह दर्शनोपयोग भी चैतन्य का ही अनुकरण करने वाला है । टीकाकार ने जिसप्रकार ज्ञानस्वभाव के कारण और कार्य ऐसे दो प्रकारों का वर्णन किया था, उसीप्रकार अब इस स्वभावदर्शन में भी कारण और कार्य ऐसे दो प्रकारों का वर्णन करते हैं । इस शास्त्र में 'नियमसार' अर्थात् नियम से करने योग्य ऐसे शुद्ध रत्नत्रयरूपी कार्य का प्रतिपादन है, इसलिये टीकाकार ने उस कार्य के साथ-साथ उसके निकटवर्ती कारण का भी वर्णन किया है । इसप्रकार कार्य का कारण अपने अन्दर ही बतलाकर एकदम स्वसन्मुखता कराई है तथा बाह्यकारण के अवलम्बन की बुद्धि छुड़ाई है ।

स्वभाव-दर्शनोपयोग दो प्रकार का है — एक कारणस्वभाव-दर्शनोपयोग और दूसरा कार्यस्वभाव-दर्शनोपयोग ; उनमें से कार्यस्वभाव रूप केवलदर्शन तो तेरहवें गुणस्थान में नवीन प्रगट होता है और कारणस्वभावरूप दर्शन त्रिकाल है ।

यहाँ टीका में कारणस्वभाव-दर्शनोपयोग के बदले 'कारण-दृष्टि' कहकर उसका 'स्वरूपश्रद्धान' रूप से वर्णन करते हैं । कारणदृष्टि शुद्धात्मा के स्वरूपश्रद्धानमात्र है । स्वरूपश्रद्धानरूप से यह कारणदृष्टि त्रिकाल है और स्वरूप का श्रद्धान सम्यक् श्रद्धान का कारण है ।

जिसप्रकार ११-१२वीं गाथा में कारणस्वभाव-ज्ञानोपयोग को 'स्वरूपप्रत्यक्ष' कहा था, उसीप्रकार यहाँ कारणस्वभावदृष्टि को स्वरूपश्रद्धान मात्र कहा है । यह स्वरूपश्रद्धान त्रिकाल है, उसके आश्रय से सम्यक्श्रद्धान नया प्रगट होता है ।

अब श्रद्धा किसकी श्रद्धा करती है ? सो यहाँ बतलाते हैं – कारणसमयसाररूप आत्मा सदा पावन है, औदयिकादि चार भावों से अगोचर सहज-परमपारिणामिक भावस्वरूप है, सदा निरावरण परम स्व-स्वरूप में अविचल स्थितिमय चारित्रस्वरूप है, नित्य शुद्ध निरंजन ज्ञानस्वरूप है और समस्त विभावों के नाश का कारण है – ऐसे आत्मा की श्रद्धा करने की त्रिकाल सामर्थ्य है और उसमें से व्यक्त होनेवाली सम्यक्श्रद्धारूप पर्याय ऐसे आत्मा की श्रद्धा करने का कार्य करती है।

यहाँ बात तो दर्शनोपयोग की चलती है, किन्तु दर्शन की भाँति श्रद्धा भी निर्विकल्प होने से, तथा 'नियम' में (अर्थात् मोक्षमार्ग में) आवश्यक कर्तव्य होने से टीकाकार मुनिराज ने श्रद्धा का वर्णन किया है।

कारणदृष्टि अर्थात् स्वरूपश्रद्धा ; उसके आश्रय से सम्यग्दर्शनरूपी कार्य होता है, जो ऐसा कहा है, उससे ऐसा नहीं समझना कि अकेली एक श्रद्धा को पृथक् करके उसका आश्रय होता है। श्रद्धा का भेद करके उसका आश्रय नहीं होता ; परन्तु परमपारिणामिकस्वभावी चिदानन्द स्वभाव के सेवन में सम्यग्दर्शन के कारण का सेवन भी साथ ही आ जाता है तथा उस कारण में से निर्मल कार्य प्रगट हो जाता है। इसप्रकार निर्मल श्रद्धारूपी कार्य प्रगट होने का कारण अर्थात् स्वरूपश्रद्धान आत्मा में सदैव वर्त रहा है – ऐसा यहाँ बतलाना है।

यह स्वरूपश्रद्धान अथवा कारणस्वभावदृष्टि सम्यग्दर्शन की कारण है और यदि 'उपयोग' के भेदरूप से लें तो कारणदृष्टि अर्थात् कारणस्वभावदर्शनोपयोग वह केवलदर्शन का कारण है। केवलदर्शन को कार्यस्वभावदर्शनोपयोग कहा जाता है। भगवान सर्वज्ञ का केवलज्ञान जिसप्रकार लोकालोक को जानता है, उसीप्रकार यह केवलदर्शन लोकालोक को देखता है। अहा, आत्मस्वभाव की अचिन्त्य गंभीर महिमा संतों ने प्रगट की है।

परमपारिणामिकस्वभावी आत्मा चार भावों से अगोचर है — ऐसा यहाँ कहा है। यद्यपि औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिकभाव से तो वह अनुभव में आता है अर्थात् उन भावों से तो वह गोचर होता है; परन्तु वे उदय-उपशम आदि चारों क्षणिकभाव हैं, उन क्षणिकभावों के लक्ष्य से पंचमभाव पकड़ में नहीं आता, इस अपेक्षा उसे चार भावों से अगोचर कहा है तथा उन उदयादि चारों भावों में कर्म के उदयादि की अपेक्षा आती है, वे त्रिकाल एकरूप भाव नहीं हैं; इसलिये उन चारों भावों को विभावभाव कहा है। यहाँ 'विभाव' का अर्थ विकार नहीं समझना चाहिए। क्षायिक भाव तो पर्याय-अपेक्षा स्वभाव भाव है; किन्तु पहले वह भाव नहीं था और फिर नया प्रगट हुआ — इसप्रकार उसमें एकरूपता नहीं रही, इसलिये उसे विभाव कहा है और त्रिकाल एकरूप ऐसे परम पारिणामिक स्वभाव को सदा पावनरूप निजस्वभाव कहा — ऐसे आत्मा की श्रद्धा करने की शक्ति स्वरूपश्रद्धान में त्रिकाल विद्यमान है, वह कारणरूप है और उसमें से ऐसे आत्मा का श्रद्धान उदित होना सम्यग्दर्शन है तथा सम्यग्दर्शन मोक्षमार्ग में नियमरूप कर्तव्य है।

क्षायिकभाव के अभाव के समय भी जिसका सद्भाव है अर्थात् क्षायिकभाव की भी जिसे अपेक्षा नहीं है — ऐसे निरपेक्ष त्रिकाल एकरूप परमस्वभाव के आश्रय से ही धर्मरूप कार्य होता है। उपशम, क्षयोपशम या क्षायिकभाव धर्म हैं, किन्तु वे भाव पंचम-परमभाव के आश्रय से ही प्रगट होते हैं; इसलिये ऐसे परमस्वभावरूप से आत्मा की भावना भाना चाहिये — ऐसा उपदेश है। 'भावना' में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों आ जाते हैं। अतः वही मोक्षमार्ग है।

आत्मा का परमपारिणामिकस्वभाव त्रिकाल है; उस स्वभाव का अवलम्बन करके उसकी भावना से ही मोक्ष का साधन प्रगट होता है। द्रव्यस्वभाव में तो सम्यग्दर्शन से लेकर सिद्धपद तक का कारण होने की शक्ति त्रिकाल है; उस कारणशक्ति को कोई आवरण नहीं है; किन्तु जब

उस कारणशक्ति का अवलम्बन लेकर सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान-चारित्ररूप कार्य किया जाये, तब उस कारणशक्ति का कारणपना सार्थक होता है। ऐसी कारण-कार्य की संधि है।

देखो भाई ! यह विषय अकेले अध्यात्म – अन्तर्दृष्टि का प्रयोजनभूत विषय है। प्रथम तो पात्रजीव ज्ञानी से उत्साहपूर्वक आत्मा की ऐसी बात सुनें, फिर अन्तर में आत्मा के साथ मिलान करके उसरूप परिणमित करने का प्रयत्न करें। आत्मा की सच्ची लगनपूर्वक स्वभाव की ओर के उग्र प्रयत्न से अन्तर में परिणमन होने पर अपूर्व आनन्द का वेदन होता है और आत्मा में मोक्ष की दृढ़प्रतिज्ञता आ जाती है। फिर वह जीव पराश्रय से धर्म को नहीं ढूंढता। मेरे धर्म का, मेरे सुख का, मेरे मोक्ष का साधन मेरे में, मेरे वर्तमान में उपस्थित है – ऐसा धर्मात्मा जानता है। अपना स्वभाव अपने पास ही है, वह अपने से दूर नहीं है; अंतर में दृष्टि करके अपने स्वभाव का आश्रय करे तो धर्म होता है, इसके अतिरिक्त अनन्तकाल में भी अन्य बाह्य साधन से धर्म नहीं होता। इसप्रकार स्वभाव को लक्ष्य में लेकर उसकी महिमा करते-करते, उसी में एकाग्र हो जाना – ऐसा ज्ञानियों का उपदेश है।

भाई ! यह अनन्त दुःखमय संसार के जन्म-मरण का मूल छेदने की बात है। अरे, इस संसार में अनेक प्रकार के जो दुःख हैं उनका मूल मिथ्यादर्शन है; उसे दूर करने के लिए आत्मा की यथार्थ पहिचान पूर्वक सम्यग्दर्शन प्रगट करना चाहिये। आत्मार्थी जिज्ञासु ऐसा विचार करता है कि अरे रे ! अभी तक मैं सम्यग्दर्शन के बिना अनन्त संसार में भटक - भटक कर बहुत दुःखी हुआ हूँ। अब, सर्व उद्यम से सम्यग्दर्शन प्रगट करना ही मेरा प्रथम कर्तव्य है। अन्तर में अपने आत्मा का ही मुझे लक्ष्य करना है, सारा संसार मेरे अन्तरात्मा से बाहर है। मेरे कार्य का सम्बन्ध अंतरंग कारण के साथ है, बाह्य में किसी के साथ मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है।

आत्मा का परमपारिणामिक स्वभाव ध्रुव है, सदा एकरूप है, परमादरणीय है; वही आश्रय करने योग्य है। इस पंचमभाव का

औदायिकादि चार भावों में समावेश नहीं होता, इसलिये वह इन चारों क्षणिकभावों से अगोचर है। चार क्षणिकभावों का आश्रय छुड़ाने के लिए उनसे अगम्य पंचमभाव का आश्रय कराया है। सम्यक्त्वी को वह स्वभाव अंतर में अनुभवगम्य हो गया है। पारिणामिकभाव को चार भावों से अगोचर कहने का आशय ऐसा है कि परमपारिणामिक पंचमभाव चार भावों के आश्रय से ज्ञात नहीं होता है। वह तो परमपारिणामिक स्वभाव के आश्रय से ही ज्ञात होता है।

परमपारिणामिक स्वभाव ही आत्मा का 'निजस्वभाव' है, उस निज भाव को आत्मा कभी छोड़ता नहीं है। उस 'निजस्वभाव' को कर्म के उदय-क्षय आदि की अपेक्षा लागू नहीं होती, इसलिये वह निरपेक्ष है। केवलज्ञान को जानने के लिए किसी इन्द्रिय या प्रकाश आदि की अपेक्षा नहीं होती, इसलिए जो उसे निरपेक्ष कहा, उसकी अपेक्षा जुदी है। उस केवलज्ञान पर्याय में कर्म के क्षय की अपेक्षा तो आती है। पहले केवलज्ञान नहीं था और फिर कर्म का क्षय होने से प्रगट हुआ – इसप्रकार उसमें निरपेक्षता नहीं है, सदा एकरूपता अनादि-अनंतता नहीं है; इसलिये उस क्षायिकभाव का आश्रय करके भी आत्मा का एकरूप सहजस्वभाव नहीं पहिचाना जा सकता। परमपारिणामिकभाव सदा पावन है; साधक जीव अन्तर्मुख होकर उसी का अभिनन्दन करते हैं।

क्षायिक सम्यग्दर्शन आदि के विचार से, ज्ञान से, ध्यान से, आश्रय से सम्यग्दर्शन अथवा केवलज्ञान नहीं होता; किन्तु परिणति जब अन्तर्मुख होकर परमस्वभाव में लीन होती है, तब सम्यग्दर्शनादि निर्मलपर्यायें प्रगट होती हैं। व्यवहार के आश्रय से होने वाला शुभराग तो औदयिकभाव है। जहाँ क्षायिकभाव के आश्रय से भी सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र नहीं होते, वहाँ औदयिकभावों के आश्रय से तो वे कहाँ से होंगे ? इसलिये व्यवहार के आश्रय से अथवा शुभराग करते-करते परमार्थ की प्राप्ति हो जायेगी – ऐसी जिसकी मान्यता है, उसे सम्यग्दर्शन आदि के कारणरूप – आश्रयरूप आत्मा

के परमस्वभाव की खबर नहीं है। छद्मस्थ को केवलज्ञान तो होता ही नहीं है। अत: उसके आश्रय की तो बात ही कहाँ रही ? परमपारिणामिकस्वभाव ही सर्व जीवों को त्रिकाल है तथा वही आश्रय करने योग्य है।

व्यवहाररत्नत्रय की भावना से निश्चयरत्नत्रय होता है — ऐसा नहीं है; किन्तु जिसमें त्रिकाल शुद्ध रत्नत्रय की शक्ति विद्यमान है — ऐसे परमस्वभाव की भावना से ही शुद्ध रत्नत्रय प्रगट होता है; इसलिये उसी की भावना करने योग्य है।

हे भाई ! पहले तू यह तो लक्ष्य में ले कि किसकी भावना करने योग्य है ? 'जैसी भावना वैसा भवन'; जिसे राग की भावना है, वह राग से लाभ मानकर मिथ्यात्वरूप परिणमित होता है; जिसे स्वभाव की भावना है, वह स्वभाव का आश्रय करके सम्यग्दर्शनादिरूप परिणमित होता है। अरे भाई, जहाँ क्षायिकभाव के आश्रय से भी सम्यग्दर्शनादि नहीं होते, तो फिर अन्य किसी के आश्रय से सम्यग्दर्शन कैसे प्राप्त हो सकता है ? इसलिये राग की या जड़ की क्रिया की भावना छोड़कर अपने चिदानन्दस्वभाव की ही भावना कर, उसी के आश्रय से सम्यग्दर्शनादि होंगे।

अहो, अपने निरावरण-स्वभाव को भूलकर लोग बाहरी झंझटों में ऐसे फंसे हैं कि आन्तरिक साधन को भूलकर बाह्य साधनों में व्यर्थ की हाय-हाय कर रहे हैं।

यहाँ संतों का ऐसा उपदेश है कि जैसा परमस्वभाव का वर्णन यहाँ किया गया है; वैसा ही प्रत्येक आत्मा का स्वभाव है और वही सम्यग्दर्शनादि का कारण है। अत: प्रत्येक आत्मा को अन्तर्मुख होकर अपने स्वभाव को ही सम्यग्दर्शनादि का कारण बनाना चाहिए। देखो, यह चैतन्य की वीतरागता। समस्त दुष्ट पापों रूपी शत्रुओं की सेना इस चिदानन्द-स्वभाव का अवलम्बन करते ही नष्ट हो जाती है। इसका अवलम्बन करते ही मिथ्यात्वादि महान शत्रु क्षणमात्र में नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं। विकल्पों और विकारों का समूह चैतन्य के अवलम्बन से इसप्रकार दूर भाग जाता है, जैसे सिंह को देखकर बकरियों

की टोली भाग जाती है। ऐसा वीर आत्मा अपना स्वरूप भूलकर अपने को कर्म से दबा हुआ पामर मान रहा है; किन्तु यदि एकबार अपने स्वभाव की शक्ति को सम्हाले अर्थात् सम्यक् श्रद्धानरूपी सिंह गर्जना करे तो कर्मरूपी बकरियाँ भागती दिखाई दें।

देखो, यह आत्मा का निधान। जिसप्रकार पिता अपने प्रिय पुत्र को सम्पत्ति का उत्तराधिकार सौंपता है, उसीप्रकार परमपिता तीर्थंकर एवं आचार्य भगवन्त जिज्ञासु भव्य जीवों को चैतन्यनिधान का उत्तराधिकार दे रहे हैं। चैतन्यनिधान में रहने वाली कारणदृष्टि वह स्वरूपश्रद्धानमात्र है – ऐसा बतलाया। अब, उसमें से व्यक्त होनेवाला पूर्ण कार्य कैसा होता है अर्थात् कार्यदृष्टि कैसी होती है, सो बतलाते हैं।

केवलज्ञान के साथ वर्तता हुआ केवल दर्शनोपयोग तथा अवगाढ़ श्रद्धा – इन दोनों का समावेश कार्य दृष्टि में हो जाता है – ऐसा यहाँ समझना।

कैसी है कार्यदृष्टि ? चार घातिकर्मों के नाश से प्रगट होने वाली यह कार्यदृष्टि क्षायिकभावरूप है ; तथा वह क्षायिकभाव क्षायिकजीव को होता है। जिसे केवलज्ञानादि क्षायिकभाव प्रगट हुए हैं, वह क्षायिकजीव कहलाता है।

कारणशुद्धजीव परमपारिणामिकभावस्वरूप है, उसमें तो सर्व जीव आते हैं; किन्तु कार्यशुद्धजीव क्षायिकभाव रूप हैं, उसमें केवलज्ञानी भगवन्त ही आते हैं। यहाँ क्षायिकभावरूप से परिणमितजीव को ही अभेदविवक्षा से 'क्षायिकजीव' कह दिया है। उस क्षायिकजीव ने केवलज्ञान द्वारा तीनभुवन को जाना है, तथा वह अपने स्वभाव से उत्पन्न होने वाले परम वीतरागसुखामृत का समुद्र है। अहा ! केवली भगवन्तों को पर्याय में वीतरागी सुख का समुद्र उछला है। उन्हें 'कारण' का सेवन करते-करते यथाख्यातरूप कार्य शुद्धचारित्र प्रगट हो गया है। अतः वे भगवन्त (अर्थात् कार्यदृष्टिवाले क्षायिकजीव) सादि-अनन्त अमूर्त अतीन्द्रिय स्वभाववाले शुद्ध सद्भूतव्यवहारनयात्मक हैं।

देखो, यहाँ सर्वज्ञ को नयस्वरूप कहा, तो फिर 'नय जड़ हैं' – यह बात कहाँ रही ? यहाँ केवली को नयस्वरूप कहा, उससे ऐसा नहीं समझना चाहिए

कि उनके ज्ञान में भी 'नय' होते हैं। नय तो श्रुतज्ञान में होते हैं, केवलज्ञान में नय नहीं होते ; परन्तु साधक जीव जब केवली भगवान के स्वरूप को ध्यान में लेता है, तब उस साधक के ज्ञान में शुद्ध सद्भूतव्यवहारनय होता है ; इसलिये उस नय के विषयभूत केवली को शुद्ध सद्भूत-व्यवहारनयात्मक कहा है। इसप्रकार नय और उसके विषय को अभेद कहने की अध्यात्मशास्त्रों की शैली है। कारणदृष्टि अनादि-अनन्त है और कार्यदृष्टि सादि-अनन्त है।

कार्यदृष्टि वाले क्षायिकजीव कैसे हैं कि तीन लोक के भव्य जीवों को प्रत्यक्ष वन्दना योग्य है। मानों ऐसी कार्यकृष्टि वाले तीर्थंकर परमदेव साक्षात् सन्मुख विराज रहे हों — ऐसा चिन्तवन करके मुनिराज कहते हैं कि अहो ! ऐसे क्षायिकभावस्वरूप परमात्मा प्रत्यक्ष वंदना योग्य हैं। सिद्ध भगवन्त भी मानो उनके अपने आत्मा में स्पष्ट दिखाई दे रहे हों। टीकाकार ऐसे उत्कृष्टभाव से कहते हैं कि क्षायिकजीव तीर्थंकर परमात्मा तीन लोक के भव्य जीवों को प्रत्यक्ष वंदनीय हैं। —ऐसे तीर्थंकर परमदेव को केवलज्ञान की भाँति यह कार्यदृष्टि भी युगपत् लोकालोक में व्याप्त होनेवाली है ; परमावगाढ़ सम्यक्त्व भी वहाँ साथ ही वर्तता है।

— इसप्रकार कारण और कार्य उपयोग का वर्णन किया।

प्रश्न :– इस उपयोग की उपयोगिता क्या है ?

उत्तर :– इस उपयोगस्वभाव को जानकर उसका मनन करने से (उसकी प्रतीति और एकाग्रता से) केवलज्ञान तथा केवलदर्शन प्रगट होते हैं। दर्शन-ज्ञानस्वरूप शुद्ध चैतनतत्त्व ही मोक्षार्थियों के लिये मोक्ष का प्रसिद्ध मार्ग है अर्थात् उस शुद्धचैतन्यतत्त्व की भावना द्वारा ही मोक्ष होता है, इसके अतिरिक्त अन्य किसी मार्ग से मोक्ष नहीं होता। शुद्ध चैतन्यतत्त्व की भावना से दर्शन-ज्ञान-चारित्रस्वरूप परिणमित अपना आत्मा ही मोक्ष का मार्ग है ; आत्मा से बाहर अन्य कोई मोक्षमार्ग नहीं है।

कार्य प्रगट होने की शक्ति — कारण वर्तमान में ही विद्यमान है ; उस कारण की अचित्य महिमा को जानने तथा उसके सन्मुख होकर कार्य प्रगट करने की ही यह बात है।

—इसप्रकार तेरहवीं गाथा में कारणरूप तथा कार्यरूप

स्वभावदर्शनोपयोग बतलाया, साथ ही साथ दोनों प्रकार की श्रद्धा भी बतलाई।

अहा ! भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने इस शास्त्र की रचना 'निज भावना' के हेतु से की है ; इसलिये श्रोताओं को भी निजभावना के हेतु से इस शास्त्र का श्रवण करना योग्य है। इस शास्त्र के वक्ता और श्रोता दोनों का ही तात्पर्य 'निजभावना' करने का है। हे श्रोताओं ! इस शास्त्र की प्रत्येक गाथा में दर्शाये हुए शुद्ध निजतत्त्व को जानकर बारम्बार उसकी भावना करना – ऐसी निजात्मभावना से अवश्य मोक्षमार्ग तथा उसके फलरूप मोक्ष की प्राप्ति होगी। वास्तव में आचार्यदेव ने इस नियमसार द्वारा आत्मार्थी जीवों को शुद्ध रत्नत्रयरूपी 'नियमसार' की भेंट दी है।

आचार्य भगवान अन्त में कहते हैं कि यह नियमसार शास्त्र मैंने निजभावना के हेतु रचा है। परमस्वभावी ऐसे शुद्ध निजात्मतत्त्व की अनेकानेक प्रकार से महिमा करके आचार्यदेव ने इस शास्त्र में उसकी भावना की धुन मचायी है। शुद्ध-आत्मा की भावना का जैसा जोरदार कथन इस शास्त्र में है, वैसा ही अंतरपरिणमन जिनके आत्मा में वर्त रहा है – ऐसे वीतरागी संतों का यह कथन है।

इस शास्त्र का तात्पर्य 'निजभावना' है ; इसलिये इसमें छह द्रव्यों का अथवा विभावपर्यायों का कथन आये, वहाँ भी उसे जानकर भावना तो निजतत्त्व की ही करना है। पर और विभावों से भिन्न निजतत्त्व को ही अपनी पर्यायों के कारणरूप से अर्थात् कारणपरमात्मारूप से भाना चाहिये। उसकी भावना से मोक्षमार्गरूप कार्य हो जाता है। तत्सम्बन्धी विस्तृत विवेचन पहले आ चुका है। ●

जीव उपयोगस्वरूप है। अभी तक ज्ञानोपयोग के प्रकारों का तथा दर्शनोपयोग की स्वभाव पर्यायों का वर्णन हो चुका है, अब १४वीं गाथा में उसकी विभावपर्यायें बतलाते हैं। इसप्रकार 'उपयोग' के समस्त प्रकारों का वर्णन पूरा करके फिर पर्यायों के भेद कहेंगे।

चक्खु अचक्खू ओही तिण्णि वि भणिदं विहावदिट्ठि त्ति।
पज्जाओ दुवियको सपरावेक्खो य णिरवेक्खो॥ १४॥

केवलदर्शन तो दर्शनगुण की स्वभावपर्याय है; चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन और अवधिदर्शन – यह तीनों विभावपर्यायें हैं। पर्यायें दो प्रकार की होती हैं – एक निरपेक्ष और दूसरी स्व-पर की अपेक्षावाली।"

१०वीं से १३वीं गाथा तक जो उपयोग के प्रकारों का वर्णन किया था, वह भी स्वभाव पर्यायों का ही वर्णन था, उनमें वहाँ स्वभाव-उपयोग को निरपेक्षपर्याय और विभाव-उपयोग को स्व-परापेक्षित पर्याय कहा गया था; परन्तु उसमें तो ज्ञान, दर्शन और श्रद्धा गुण की पर्यायों की ही बात थी। अब इस गाथा में दर्शनगुण की विभाव पर्यायों के साथ-साथ सम्पूर्ण द्रव्य की स्वभावपर्याय और विभावपर्याय बतलाने वाले बीज पाये जाते हैं।

दर्शन-उपयोग तो सामान्य प्रतिभासरूप है; उसमें विभावज्ञान की भाँति 'सम्यक्' और 'मिथ्या' ऐसे दो प्रकार नहीं हैं। विभावज्ञान सात प्रकार का है, जिसका वर्णन पूर्व में हो चुका है। अब यहाँ तीन प्रकार के विभावदर्शन का वर्णन करते हैं, वे तीन प्रकार हैं – चक्षु, अचक्षु और अवधि। चक्षुइन्द्रिय के विषय को जानने से पूर्व चक्षुदर्शन होता है; चक्षु के अतिरिक्त अन्य इन्द्रियों के या मन के विषय को जानने से पूर्व अचक्षुदर्शन होता है। अवधिज्ञान-उपयोग से पूर्व अवधिदर्शन-उपयोग होता है; परन्तु मनःपर्यय से पूर्व मनःपर्यय नाम का कोई दर्शनोपयोग नहीं होता। इसप्रकार विभाव-दर्शनोपयोग के तीन प्रकार हैं। स्वभावदर्शनोपयोग के कारणस्वभाव और कार्यस्वभाव – ऐसे दो प्रकारों का वर्णन पहले हो चुका है।

इसप्रकार जीव के लक्षणभूत ज्ञान और दर्शनोपयोग के समस्त प्रकारों का वर्णन किया। अब, 'पर्याय' की व्याख्या तथा उसके दो प्रकार बतलाकर फिर पन्द्रहवीं गाथा में जीवद्रव्य की पर्यायों का अद्भुत वर्णन करेंगे। अभी तक 'उपयोग' की कारण और कार्य पर्यायों का वर्णन था; अब जीवद्रव्य की पर्यायों का वर्णन आयेगा।

पर्याय का अर्थ है – **"परि समन्तात् भेदमेति गच्छतीति पर्यायः"** अर्थात् जो सर्व ओर से भेद को प्राप्त हो, वह पर्याय है। पर्याय के दो प्रकार हैं – एक स्वभावानुसारी शुद्धपर्याय और दूसरी विभावरूप अशुद्धपर्याय।

उसमें, स्वभावपर्याय छहों द्रव्यों की होती है; वह अर्थपर्यायरूप है, वाणी और मन से अगोचर है, अतिसूक्ष्म है, आगमप्रमाण से स्वीकार करने योग्य है तथा छह प्रकार की वृद्धि-हानि सहित है। यहाँ जीव का अधिकार होने से जीव के गुण-पर्यायों का वर्णन मुख्य है, इसलिये यहाँ छह द्रव्यों के गुणपर्यायों का विस्तार नहीं किया। जीव के अतिरिक्त अन्य पाँच अजीव द्रव्यों के गुण-पर्यायों का वर्णन आगे अजीव-अधिकार में किया है।

नर, नारक, मनुष्य या देवरूप व्यंजनपर्यायें तो जीव की अशुद्ध पर्यायें हैं। यद्यपि मतिज्ञानादि अर्थपर्यायें भी जीव की अशुद्ध-विभावपर्यायें हैं; परन्तु यहाँ उन अर्थपर्यायों को 'अशुद्ध पर्यायें' न कहकर 'अशुद्ध गुण' या 'विभाव गुण' कहा है, अशुद्ध पर्यायों में तो व्यंजनपर्यायों को ही लिया है – ऐसी इस शास्त्र की शैली है।

जीव में विभावपर्यायें होने पर भी उन्हें एक ओर रखकर अर्थात् उन पर से दृष्टि हटाकर भावना तो शुद्ध निजतत्त्व की ही करना है। इसलिये टीकाकार मुनिराज कहते हैं कि परभाव होने पर भी, विभावपर्यायें होने पर भी, अशुद्धता होने पर भी, मैं तो उन सबसे रहित ऐसे एक शुद्ध जीवतत्त्व को ही सदा भाता हूँ; क्योंकि उसी की भावना से सकल अर्थ की – मोक्ष की सिद्धि होती है।

पर्याय में अनेक प्रकार के विभाव होने पर भी उन सबसे जो रहित है – ऐसे शुद्ध निजतत्त्व को – अपने हृदय में विराजमान कारणपरमात्मा को ही मैं भजता हूँ। यहाँ धर्मात्मा को संबोधित करते हुए मुनिराज कहते हैं कि हे

भव्यशार्दूल ! अपने हृदय में तूँ जिस कारणपरमात्मा को भज रहा है, उसी को उग्ररूप से भज ! जिसके भजन से सम्यग्दर्शन आदि 'कार्य' हुआ, तूँ उसी 'कारण' में लीन हो जा। उसी से तुझे मुक्ति की प्राप्ति होगी।

भजन कहो या भावना ; एक मात्र निजत्व की ही भावना करने योग्य है। अहा, देखो तो यह भावना ! ऐसी आत्मभावना भाने से जीव को केवलज्ञान लक्ष्मी प्राप्त – प्रगट होती है।

देखो, संसारी जीवों को पर्याय में पुण्य-पापादि विकार है, मतिज्ञानादि अपूर्ण दशा है और मनुष्यादि अशुद्ध आकृति (विभाव व्यंजनपर्याय) है। – यह तीनों परभाव हैं और उनके समक्ष परम शुद्धस्वभावी कारणपरमात्मा भी विराजमान हैं। अत: पर्याय में परभाव होने पर भी, उत्तम पुरुषों के हृदयकमल में उनकी भावना नहीं है ; उत्तम पुरुषों के हृदय में अर्थात् साधक धर्मात्माओं की दृष्टि में जो सदा शुद्ध ऐसा भगवान कारणरूप शुद्धात्मा ही शोभायमान है। ज्ञानी की दृष्टि विभाव पर नहीं है ; उसकी दृष्टि तो कारणस्वभाव पर ही है, उसकी निर्मलपर्याय अन्तर्मुख होकर कारणस्वभाव में प्रविष्ट हो गई है ; इसलिये उस धर्मात्मा के हृदय में शुद्ध कार्यपरिणति शुद्ध कारणपरमात्मा के साथ निजानन्द की केलि करती है।

देखो, यह उत्तम पुरुषों का हृदय ! उनके हृदय में तो कारणपरमात्मा ही शोभायमान है, उसके हृदय में विभावों के लिए कोई स्थान नहीं है, विभावों की भावना नहीं है। जिसके हृदय में विभाव की भावना है, जिसकी परिणति विभाव के साथ केलि करती है, वह उत्तम पुरुष नहीं है। संसार में भले ही वह चाहे जैसा महान माना जाता हो, किन्तु धर्म में वह उत्तम नहीं है।

अज्ञानी के भी 'कारणशुद्ध आत्मा' है तो अवश्य ; किन्तु उसे उसका लक्ष्य नहीं है, उसकी परिणति अन्तर्मुख होकर उस कारण के साथ केलि नहीं करती। इसलिये उसे उस शुद्ध कारण के अनुसार कार्य नहीं होता, किन्तु पर का अनुसरण करने से विकारी कार्य ही होता है। ज्ञानी को ही उसका लक्ष्य है, इसलिये कहा है कि उत्तम पुरुषों के हृदयकमल में कारण-आत्मा शोभा

देता है । वास्तव में कारण-आत्मा को भजनेवाले धर्मात्मा ही जगत में उत्तम पुरुष हैं । वे अपनी परिणति को अंतरोन्मुख करके कारण-स्वभाव का अनुसरण करते हुए सम्यग्दर्शनादि उत्तम कार्यरूप परिणमित होते हैं ।

मुनिराज कहते हैं कि अपने सम्पूर्ण कार्य की सिद्धि के लिये हम इस कारणपरमात्मा को ही सदा भजते हैं और हे भव्यशार्दूल ! तू भी उसी को भज ! हे भव्यात्मारूपी शार्दूल ! सिंह ! तूँ अपना पराक्रम तो देख ! तू अपने पराक्रम को सम्हाल ! ! अन्तर में कारण परमात्मा की भावना करने में ही तेरा परमपराक्रम है । विभावों की भावना में वीर्य को अटका देना, बर्बाद कर देना -- यह तो दीनता है । जिसप्रकार वन में वास करनेवाला सिंह निर्भयरूप से अपनी क्रीड़ा में मस्त रहता है, उसीप्रकार हे भव्योत्तम शार्दूल ! तू जगत से उदास होकर निर्भयरूप से अपने कारणपरमात्मा की भावना में तत्पर रह ।

लड़ाई में हजारों योद्धाओं को भले ही जीत ले, किन्तु यदि स्वभाव की भावना द्वारा विभावों को नहीं जीता और स्वयं विभावों के अधिकार में हो गया, तो उसे पराक्रमी नहीं कहते । जो स्वभाव के अवलम्बन में रहकर समस्त विभावों को जीत लेता है, वही सच्चा पराक्रमी/वीर है ; इसलिये हे पुरुषार्थी भव्य ! तूँ अन्तर्मुख होकर अपने कारणपरमात्मा को ही भज, वह तुझसे भिन्न नहीं है, वह तू ही है ; इसलिये उसी को तू उग्ररूप से भज, उसके भजन से ही तुझे मोक्ष के पंथ की तथा मोक्ष की सिद्धि होगी । ●

णरणारयतिरियसुरा पज्जाया ते विहावमिदि भणिदा।
कम्मोपाधिविवज्जियपज्जाया ते सहावमिदि भणिदा ॥ १५ ॥

'कारणशुद्धपर्याय' के वर्णन की यह मुख्य गाथा है। आचार्यदेव ने इस गाथा में जीव की विभाव और स्वभावपर्यायों का वर्णन किया है; उनमें से स्वभावपर्याय के विवेचन में टीकाकार ने 'कारणशुद्धपर्याय' का अलौकिक वर्णन किया है।

आत्मा की पर्यायें दो प्रकार की है :— (१) स्वभावरूप, और (२) विभावरूप। मनुष्य, देव, नारकी और तिर्यंचरूप अवस्थायें तो कर्म की उपाधिवाली विभावपर्यायें हैं और स्वभावपर्यायें कर्म की उपाधि से रहित हैं।

मनुष्यादि विभावपर्यायों को तो लोग जानते हैं, परन्तु स्वभावपर्यायों को नहीं जानते। अतः यहाँ पहले स्वभावपर्यायों का वर्णन करते हैं।

स्वभावपर्यायों के दो भेद हैं :—

(१) कारणशुद्धपर्याय, (२) कार्यशुद्धपर्याय।

जिसप्रकार उपयोग की स्वभावपर्याय का वर्णन करते हुए कारण और कार्य का अद्‌भुत वर्णन किया था, उसीप्रकार अब आत्मद्रव्य की स्वभावपर्याय का वर्णन करते हुए कारण और कार्य का अद्‌भुत वर्णन करते हैं।

जिसमें कर्म की अपेक्षा नहीं है ऐसी यह स्वभावपर्याय प्रत्येक आत्मा में त्रिकाल विद्यमान है, यह त्रिकाल आनन्द में डूबी हुई है। जब भव्यजीव इसे जान लेता है, तब इसका अनुसरण करके स्वभावकार्य प्रगट करता है। कार्य त्रिकाल नहीं होता, परन्तु कारण त्रिकाल रहता है, जब जीव इसका अवलम्बन करता है, तब इस कारण जैसा ही निर्मल कार्य नवीन प्रगट होता है। इसलिए ऐसा कार्य प्रगट कराने के लिए यहाँ 'कारण' की महिमा बतलाते हैं।

हे जीव ! तू सम्यग्दर्शन से लेकर सिद्धदशा तक का जो शुद्धकार्य प्रगट करना चाहता है, उसकी कारणरूप शक्ति तेरे आत्मा में ही है। किसी भी बाह्य पदार्थ में तेरे सम्यग्दर्शनादि के कारण होने की शक्ति नहीं है। वह शक्ति तो तेरे आत्मा में ही वर्त रही है। इसलिये अंतर्मुख होकर एकबार उसकी प्रतीति कर। उसका ज्ञान होते ही तुझे ऐसा लगेगा कि अहो ! मेरा कारण तो मुझमें ही था, किन्तु अभी तक मैं उसे भूला हुआ था ; इसलिये अभी तक मेरा कार्य नहीं हुआ, अब मुझे कारण की महिमा मालूम हुई। इसप्रकार कारण-कार्य की संधि होने पर तेरे आत्मा में अचिन्त्य चैतन्य तरंगे उल्लसित होंगी।

नियमसार अर्थात् शुद्ध रत्नत्रयरूपी मोक्षमार्ग, जो नियम से करने योग्य कार्य है। वर्तमान पर्यायरूपी कार्य के साथ उसका 'कारण' भी वर्तमानरूप बतलाकर संतों ने अद्भुत बात की है। 'कारणशुद्धपर्याय' कहो या 'कार्य का वर्तमान कारण' कहो ; एक ही बात है।

आत्मा के त्रिकाली स्वभावभूत सहज चतुष्टय के साथ रहनेवाली पूजित पंचमभावपरिणति ही कारणशुद्धपर्याय है। अहा ! आचार्यदेव कहते हैं कि यह परिणति पूजित है, आदरणीय है, आश्रय करने योग्य है।

देखो, इसे 'परिणति' कहा है, किन्तु यह व्यवहारनय की विषयभूत परिणति नहीं है ; यह तो सहजशुद्ध निश्चयनय की विषयभूत परिणति है। सहजशुद्ध निश्चयनय से आत्मा को लक्ष्य में लेने पर उसमें यह कारणशुद्धपर्याय भी साथ ही आ जाती है, इसे गौण नहीं किया जा सकता ; क्योंकि यह तो द्रव्य के साथ त्रिकाल तन्मयरूप से वर्तती है।

१. अतीन्द्रियस्वभावी सहजज्ञान, जो कि अनादि-अनंत है।

२. अतीन्द्रियस्वभावी सहजदर्शन, जो कि अनादि-अनंत है।

३. अतीन्द्रियस्वभावी सहजचारित्र, जो कि अनादि-अनंत है।

४. अतीन्द्रियस्वभावी सहजपरमवीतराग सुख, जो कि अनादि-अनंत है।

यह स्वभावचतुष्टय आत्मा में त्रिकाल है और यह आत्मा का ही शुद्ध अंतस्तत्त्व है। आत्मा के अंतरंगतत्त्वरूप इस त्रिकाली स्वभावचतुष्टय के साथ वर्तती हुई पूजित पंचमभाव परिणति कारणशुद्धपर्याय है। यह कारणशुद्धपर्याय औदयिकादि चार भावों रूप नहीं है, किन्तु पंचम पारिणामिकभावरूप है और कर्मों से त्रिकाल निरपेक्ष है। अनादि-अनंत आत्माकाररूप वर्तती हुई – ऐसी यह स्वभावभूत कारणपरिणति ही निर्मलकार्य का कारण है, कारणपरिणति कहीं आत्मा से पृथक् नहीं है, कारणपरिणति रूप से वर्तता हुआ सम्पूर्ण आत्मा ही समस्त निर्मलपर्यायों का कारण है। – ऐसा भगवान कारणपरमात्मा प्रत्येक जीव को उपादेय है, वह कोई अन्य नहीं, किन्तु स्वयं ही है।

अहो ! परमपारिणामिकभाव की परिणति से शोभित चैतन्य भगवान एक धारा में विराजमान है। अनादि-अनंत एक धारा में जब देखो तब परिपूर्ण, वर्तमान वर्तता हुआ कृपानिधान परमात्मा विराजमान है – शोभायमान है। हे जीव ! उसी को तू अपना कारण बना और बाह्यकारण ढूंढने का भ्रम छोड़ ! अहा ! जहाँ स्वयं अपने में पूर्णता भरी हुई है, वहाँ दूसरे की क्या अपेक्षा ?

देखो, यह निरपेक्ष स्वभाव ! जिसप्रकार धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और काल यह चारों द्रव्य त्रिकाल शुद्ध हैं, निरपेक्ष एकरूप से सदैव वर्तते हैं; उसीप्रकार आत्मा को भी यदि उसके निरपेक्ष स्वभाव से देखें तो मोक्ष के समय या साधकदशा के समय वह सदैव एकरूप – शुद्धरूप से ही वर्तता है, अपने सहज स्वभाव चतुष्टयसहित पंचमभाव परिणति से सदैव शोभायमान है। मुनिराज कहते हैं कि ऐसी परिणति से सुशोभित आत्मा पूजित है, क्योंकि वह केवलज्ञान का दातार है। – ऐसे कारण के अवलम्बन से केवलज्ञानरूपी कार्य को साधते-साधते संतों के हृदय में से यह उद्गार निकले हैं।

जिसप्रकार धर्मास्तिकायादि द्रव्यों में उदयादि की अपेक्षा रहित

पारिणामिकभावरूप से सदा परिणमन है, उसीप्रकार महान महिमावन्त चैतन्य भगवान आत्मा की परिणति भी कर्म के उदयादि की अपेक्षा रहित परम पारिणामिकभावरूप से वर्तती है, उस निरपेक्ष स्वभावपरिणति का ही नाम कारणशुद्धपर्याय है।

ज्ञानावरणादि कर्मों के नाश से जो केवलज्ञानादि पर्याय प्रगट हुई, वह भी स्वभावपर्याय है तथा उसे इन्द्रियादि की अपेक्षा नहीं है, इस अपेक्षा उसे भी निरपेक्ष कहा जाता है; किन्तु कर्मक्षय के साथ उसका निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है – इतनी अपेक्षा उसमें आती है, जबकि इस कारणशुद्धपर्याय में तो कर्म के साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध की भी अपेक्षा नहीं है, यह तो द्रव्य के साथ त्रिकाल निरपेक्षरूप ही वर्तती है।

यहाँ ध्यान रखने योग्य बात यह है कि वर्तमान पर्याय में अज्ञान-ज्ञान, राग-वीतरागता, संसार-मोक्ष इत्यादि कार्य जीवों के वर्तते हैं, उस कार्य के स्वीकारपूर्वक ही यह बात है। यदि उस कार्यपर्याय को स्वीकार न करे, अशुद्धकार्य को टालकर शुद्धकार्य करना है, उसे स्वीकार न करे तो कार्य के बिना कारण किसका ? – इसलिये पर्याय में शुद्ध-अशुद्ध कार्य के स्वीकार पूर्वक ही, शुद्धकार्य के कारणरूप – इस 'कारणशुद्धपर्याय' का यथार्थ स्वीकार होता है। 'यह मेरी शुद्धता का कारण है' – ऐसा वही कह सकता है कि जिसने कारण के आश्रय से शुद्धकार्य प्रगट किया हो। इसप्रकार कार्य-कारण की संधिपूर्वक की यह बात है। इस मुख्य विषय का स्पष्टीकरण प्रवचनों में पहले कई बार आ चुका है।

यह कारणशुद्धपर्याय वर्तमानरूप है। यदि यह वर्तमानरूप न हो तो वर्तमान कार्य भी शुद्ध नहीं हो सकता। जिसप्रकार शुद्धकार्य वर्तमान में होता है, उसीप्रकार उसका शुद्धकारण भी वर्तमान में ही वर्तता है। इसप्रकार कारणशुद्धपर्याय अपने स्व-चतुष्टयरूप वैभवसहित वर्तमान में वर्तती है, वह कभी उत्पाद-व्ययरूप नहीं है; उत्पादरूप से उसका अनुभव नहीं है। यदि उसका उत्पादरूप अनुभव हो, तब तो जब केवलज्ञानादि अनन्तचतुष्टयरूप

कार्य हो जाये, तब कारणरूप त्रिकाल अनन्तचतुष्टय का प्रगट अनुभव हो; परन्तु ऐसा तो है नहीं। अनन्तचतुष्टय का प्रगट अनुभव तो तभी होता है कि जब कारण का आश्रय करके शुद्धकार्य प्रगट करें। यदि यह एकरूप धारावाही कारणशुद्धपर्याय आत्मा के साथ त्रिकाल न हो, तो स्वभाव की त्रिकाल सामर्थ्य और वैसा ही उसका परिपूर्ण वर्तमान – उन दोनों के अभेदरूप अखंड पारिणामिकभाव सिद्ध कैसे होगा ?

वर्तमान पूर्ण सामर्थ्यरूप से वर्तती हुई जो कारणशुद्धपर्याय है, उसके आश्रय से ही मोक्षरूपी कार्य प्रगट होता है। वर्तमान पूर्णकार्य प्रगट करने के लिये यदि वर्तमान में पूर्ण-आश्रय न हो, तब तो वर्तमान कार्य के लिये भूत-भविष्य में दौड़ना पड़ेगा; परन्तु वर्तमान कार्य के लिये जिसप्रकार पर का आश्रय नहीं है, उसीप्रकार वर्तमान कार्य को भूत-भविष्य का भी आश्रय नहीं है, वर्तमान कार्य का आश्रय भी वर्तमानरूप ही है। यदि दोनों वर्तमानरूप न हों तो कारण-कार्य की एकता कहाँ से होगी ? इसलिये आत्मा स्वयं कारणशुद्धपर्यायरूप से वर्तता हुआ अपने शुद्धकार्य का आश्रय है।

कारणशुद्धपर्याय का वैभव कैसा है ? कि जिसमें तीनों काल सहजज्ञान, सहजदर्शन, सहजचारित्र और सहजवीतराग सुख के भण्डार भरे हैं। अहा ! ऐसे सहज-चतुष्टय के भण्डार आत्मा में परिपूर्ण पूजित पंचमभाव परिणति (कारणशुद्धपर्याय) सदा वर्तती है। हे जीव ! अपने इस भण्डार में से तू केवलज्ञानादि अनन्तचतुष्टय प्रकट कर, जिससे तुझे अनन्तकाल तक केवलज्ञानादि अनन्तचतुष्टय प्रगट होता रहेगा, तुझे उसकी कभी कमी नहीं पड़ेगी। – ऐसा अटूट भण्डार जब तेरे पास है, तब तू पराश्रय की भीख किसलिये माँगता है ? अर्थात् अपने सुख के लिए बाह्य कारणों को क्यों ढूंढता है ? अन्तर्मुख हो और अपने चैतन्यभण्डार को देख ! अहो ! मुनिवरों ने अपनी सूक्ष्म प्रज्ञा से अपने आत्मा के वैभव को प्रसिद्ध किया है।

यहाँ स्वभावचतुष्टय में जो 'सहज परम वीतरागसुख' कहा, उसमें

'वीतराग' कहने से ऐसा नहीं समझना चाहिये कि पहले राग था और फिर दूर हुआ ; परन्तु वह तो स्वभाव से ही सदा रागरहित है। चैतन्य भगवान अपने स्वभाव-अनन्तचतुष्टय की सहज परिणति के साथ ही तीनों काल विराज रहा है, एक समय भी उस परिणति का उसे विरह नहीं है। — ऐसी अपनी स्वरूपपरिणति सहित वह पूजनीय है, उपादेय है, सेव्य है। निर्मल परिणति द्वारा ही उसकी यथार्थ पूजा, उपासना, सेवा होती है। कार्य द्वारा कारण की सेवा होती है और कारण के सेवन अनुसार कार्य की निर्मलता होती है। जो शुद्धकारण का (रागादि का) सेवन करता है, उसे अशुद्धकार्य (मिथ्यात्वादि) होता है।

जैसा त्रिकाल स्वभाव वैसा ही उसका वर्तमान, जैसा कि त्रिकाल सामान्य वैसा ही उसका वर्तमान विशेष — इसप्रकार परमपारिणामिक स्वभाव से आत्मा सदैव वर्त रहा है। अकेले स्वभाव की ही अपेक्षावाली, जो एकरूप धारावाही परिणति है, वही कारणशुद्धपर्याय है तथा वह पूजनीय है। त्रिलोकीनाथ अरिहंत और सिद्ध भगवन्त भी इस परमपारिणामिकभाव की पूजित परिणति का सेवन कर-करके ही अरिहंत और सिद्ध हुए हैं ! इसलिये मुनिराज कहते हैं कि हे भव्यजीवों ! तुम भी उसी का सेवन करो। मुनिराज स्वयं उसके द्वारा सिद्धपद को साधते-साधते कहते हैं कि हे सखा ! तुम भी इसका सेवन करो और चलो न मेरे साथ मोक्ष में।

जिसप्रकार समुद्र, समुद्र के पानी का समूह और उसकी सतह - तीनों एकरूप हैं और ऊपर विविध प्रकार की तरंगे उठती तथा शांत होती है, उसीप्रकार आत्मा में त्रिकाली द्रव्य, उसके गुण तथा परम पारिणामिकभाव से वर्तती हुई उसकी परिणति तीनों एकरूप हैं और जो उत्पाद-व्ययरूप पर्यायें हैं, वे विविध हैं, उनमें उदयादिभाव होते हैं, वे उत्पन्न होकर दूसरे ही क्षण विलय को प्राप्त होती है ; जबकि कारणशुद्धपर्याय में तो पारिणामिकभावरूप एक ही प्रकार है, वह कभी विलय को प्राप्त नहीं होती, सदैव एक धारा से वर्तती है।

कारणपर्याय तो सदा शुद्ध है और कार्यपर्याय में तो शुद्ध व अशुद्ध दो भेद हैं; कार्य की भाँति कारण शुद्ध और अशुद्ध ऐसे दो प्रकार का नहीं है तथा उसे अशुद्धता का कारणपना भी नहीं है। प्रगट पर्याय में अशुद्धता हो तब भी कारणशुद्धपर्याय में अशुद्धता नहीं है। कारणशुद्धपर्याय तो शुद्धता का ही कारण है। उसमें 'पर्याय' शब्द आने से ऐसा नहीं समझना कि वह पयार्यदृष्टि का विषय है। वह पर्याय द्रव्य के साथ सदा तन्मयरूप से वर्तती हुई द्रव्यदृष्टि के विषय में समा जाती है। वह त्रिकाली सम्पूर्ण द्रव्य का एक वर्तमान भेद होने से उसके लिये 'पर्याय' शब्द का प्रयोग किया है और वर्तमान कार्य (मोक्षमार्ग) करने के लिये उसका वर्तमान कारण बतलाया है। इस कारण पर जिसकी दृष्टि का बल है, उसके सम्यग्दर्शनादि कार्य होते हैं।

सर्व-पदार्थों का ज्ञाता तथा सर्वोत्तम महिमावाला यह चैतन्यमूर्ति आत्मा ही है, उसके अन्तर में वर्तमान में क्या-क्या वर्त रहा है — यह उसकी बात है। जल्दी समझ में न आये, तब भी इसे ऐसे लक्ष्यपूर्वक समझना चाहिये कि यह मेरे स्वभावसामर्थ्य की अचिन्त्य महिमा का गुणगान हो रहा है। स्वभाव के बहुमान के संस्कार भी मोह को अत्यन्त मन्द कर देते हैं।

यह 'कारणशुद्धपर्याय' कहकर संत और ज्ञानी ऐसा बतलाते हैं कि अरे जीव ! तुझमें प्रतिसमय परिपूर्णता वर्त रही है, शुद्धता का पूर्णकारण सदैव तुझमें उपस्थित है, बाह्य में कारण ढूंढने के लिये जाना पढ़े — ऐसा नहीं है। इसलिये अन्तर्मुख होकर उस कारण के आश्रय से अपने में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप कार्य को प्रगट कर। यही नियम से कर्तव्य है।

चैतन्य भगवान के पास कारणशुद्धपरिणति रूपी तलवार उपस्थित ही है, उसे हाथ में लेते ही (उसका आश्रय करते ही) अनन्तसंसार कट जाता है। कारणपरमात्मा अपने कारणशुद्धपरिणतिरूप सिंहासन पर सदा विराजमान है, कारणपरिणति परिपूर्णतः शोभायमान हैं — ऐसी पूर्णता को जो मानेगा, वही उसे प्राप्त करेगा और जो उसे अपूर्ण मानेगा, वह अधूरा ही रहेगा।

स्वभावभूत जो कारणशुद्धपर्याय उसके आश्रय से प्रगट होनेवाला पूर्णकार्य कैसा है अर्थात् स्वभावभूत कार्यशुद्धपर्याय कैसी है, सो अब कहते हैं–

केवलज्ञान, केवलदर्शन, केवलसुख तथा केवलवीर्य – ऐसे अनन्तचतुष्टययुक्त परमोत्कृष्ट क्षायिकभाव की शुद्धपरिणति, सो कार्यशुद्धपर्याय है। जिसप्रकार 'कारण' में चतुष्टय लिये थे, उसीप्रकार इस 'कार्य' में भी चतुष्टय लिये हैं; किन्तु दोनों में उन चार गुणों के साथ अन्य अनन्तगुणों की बात भी साथ ही समझ लेना चाहिये।

कारणशुद्धपर्याय में जो चतुष्टय कहे, वे अनादि-अनन्त हैं और इस कार्यशुद्धपर्याय में जो चतुष्टय कहे, वे सादि-अनन्त हैं। कारणशुद्धपर्याय त्रिकाल कर्म की उपाधि से रहित है और कार्यशुद्धपर्याय प्रगट होने के पश्चात् सदैव कर्म की उपाधि से रहित है। कारणशुद्धपर्याय सहजशुद्ध निश्चयनय का विषय है और यह कार्यशुद्धपर्याय शुद्धसद्भूत व्यवहारनय का विषय है।

पूर्णशुद्ध कार्य प्रगट करना ही जीव का कर्तव्य है और वह कार्य कारणस्वभाव के आश्रय से प्रगट होता है। इसलिए ऐसा जानकर अन्य सबका आश्रय छोड़कर एक कारणस्वभाव का आश्रय करना ही इस उपदेश का तात्पर्य है। अहो ! जंगल में बैठ-बैठे मुनिवरों ने सिद्ध परमात्मा के समान अपने कारणपरमात्मा के साथ ध्यान की केलि करते-करते आनन्द का समुद्र उछाला है।

इसप्रकार कारणशुद्धपर्याय और कार्यशुद्धपर्याय – ऐसे दो प्रकार से जीव की स्वभावपर्याय का वर्णन किया। अब आगे छहों द्रव्यों की अपेक्षा से स्वभावपर्याय कहेंगे।

कारणशुद्धपर्याय जो कि नियमसार का एक मुख्य विषय है, इसका गूढ़ अध्ययन करने वाले जिज्ञासुओं को ज्ञात हो जायेगा कि संतों ने कारण और

कार्य की संधि का कैसा अद्‌भुत-अन्तर्मुखी वर्णन किया है। इसका मनन-मंथन करनेवाले आत्मार्थी के अन्तर में ऐसी भावोर्मियाँ स्फुरित होती हैं, मानों परिणति उल्लसित हो-होकर 'कारण' से भेंट करती हो। वास्तव में अपना हितकार्य करने के इच्छुक जीवों को उसका यथार्थ कारण दर्शाकर संतों ने महान उपकार किया है। "न हि कृतमुपकारं साधवो विस्मरन्ति" — इस उक्ति के अनुसार, उन संतों के उपकार का पुनः पुनः स्मरण करके उन्हें नमस्कार करते हैं।

छहों द्रव्यों की साधारण और सूक्ष्म ऐसी जो अर्थपर्यायें होती हैं, वे शुद्ध हैं, वे सूक्ष्मऋजुसूत्रनय की विषय हैं तथा षट्‌गुणीवृद्धि-हानि सहित हैं। इसप्रकार पहले जीव की स्वभावपर्यायों का और फिर छहों द्रव्यों की स्वभावपर्यायों का वर्णन किया।

नर-नारकादि पर्यायें वे जीव की विभावपर्यायें हैं। जो जीव पर्यायबुद्धि वाला है अर्थात् विभावपर्याय को ही अपना स्वरूप मानता है, वह जीव विभाव पर्यायोंरूप से परिणमित होता हुआ नये-नये शरीर धारण करके चार गति में भटकता है। और ज्ञानी, 'चिदानन्द स्वरूप कारणपरमात्मा ही मैं हूँ' — ऐसा जानकर उसी की भावना द्वारा निर्मलपर्यायरूप परिणमित होता हुआ सिद्धपद को प्राप्त करता है।

अब यही बात मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव श्लोक द्वारा कहते हैं,

मूल श्लोक इसप्रकार है—

अपि च बहुविभावे सत्ययं शुद्धदृष्टिः
सहज परमतत्त्वाभ्यास निष्णातबुद्धिः।
सपदि समयसारान्नान्यदस्तीति मत्त्वा
स भवति परमश्रीकामिनी कामरूपः॥ २७॥

बहु विभाव होने पर भी, सहज परमतत्त्व के अभ्यास में जिसकी बुद्धि प्रवीण है — ऐसा यह शुद्धदृष्टिवाला पुरुष, 'समयसार से अन्य कुछ नहीं

है' — ऐसा मानकर शीघ्र-शीघ्र परमश्रीरूपी सुन्दरी का बल्लभ होता है।

देखो, यह निश्चय-व्यवहार की संधि ! 'विभाव होने पर भी' ऐसा कहकर पर्याय में जो व्यवहार है, उसका स्वीकार किया; किन्तु 'समयसार से अन्य कुछ नहीं है' ऐसा कहकर शुद्धिदृष्टि में उसका अभाव बतलाया — इसप्रकार शुद्धिदृष्टि से विभाव का निषेध करके धर्मी जीव मुक्ति प्राप्त करता है।

जो बुद्धि सहज परमतत्त्व के अभ्यास में संलग्न है, वही बुद्धि प्रवीण है; विभाव में लगी हुई बुद्धि प्रवीण नहीं है।

'परमतत्त्व का अभ्यास' यह चारित्र को सूचित करता है।

'प्रवीणबुद्धि' यह सम्यग्ज्ञान को सूचित करती है।

'शुद्धदृष्टि' यह सम्यग्दर्शन को सूचित करती है।

— इसप्रकार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रवाला पुरुष, विभाव का निषेध करके चिदानन्द स्वभाव के आश्रय से मुक्ति प्राप्त करता है। अहो ! 'जिन' और 'जीव' समान हैं, कहा भी है :— **जिनपद निजपद एकता, भेदभाव नहिं कांई।**

प्रत्येक आत्मा सिद्धसमान परिपूर्ण स्वभावी है, अज्ञानी भले ही अपने को विभावपर्याय जितना ही मानता हो; किन्तु ज्ञानी तो कहते हैं कि वह व्यवहार से ही विभावपर्यायरूप है, निश्चय से तो वह सिद्ध जैसा ही है।

इसलिये हे जीव ! तू शुद्धदृष्टि से अपने आत्मा को देख ! शुद्धस्वभाव को दृष्टि में लेकर उसकी भावना करने से तू भी अल्पकाल में सिद्ध परमात्मा बन जायेगा।

साधर्मी को एक-दूसरे के प्रति जो प्रेम होता है, उस प्रेम का क्या स्वरूप है ?

जैसा प्रेम माँ को अपने पुत्र पर होता है, गाय को अपने बछड़े पर होता

है ; वैसा ही निष्पृह प्रेम धर्मी को साधर्मी के प्रति होता है । मैं अभी इनके दुःख में सहायता करूँगा, तो भविष्य में किसी समय यह भी मुझे काम में आयेंगे – उनके ऐसी बदले की भावना नहीं होती, परन्तु वे धर्म के सहज प्रेमवश निस्पृहभाव से धर्मी के प्रति वात्सल्य रखते हैं ।

जिसप्रकार माता अपने पुत्र का दुःख देख नहीं सकती, हिरनी अल्प सामर्थ्यवान होने पर भी उसकी रक्षा हेतु सिंह से भी लड़ने चली जाती है । इसीप्रकार धर्मात्मा भी साधर्मी जीव के हित में अपने को निःस्वार्थ भाव से लगा देता है ।

सच्ची माता के प्रेम को बतानेवाली एक बात कही जाती है कि एक बालक के लिये दो स्त्रियों में झगड़ा हो रहा था । अतः न्यायाधीश ने सत्य की परीक्षा हेतु बालक के दो टुकड़े करके दोनों को एक-एक टुकड़ा देनें की आज्ञा दी । यह सुनते ही सच्ची माता तो जोर से रोने लगी और पुत्र की रक्षा करने के उद्देश्य से बोली– बालक इसे ही दे दीजिए, मुझे नहीं चाहिए । उदाहरण में से केवल इतना लेना है कि सच्ची माता पुत्र का दुःख देख नहीं सकती, उसका वास्तविक प्रेम उमड़ पड़ता है । इसीप्रकार साधर्मी का प्रेम वास्तविक प्रसंग पर छिपा नहीं रहता । सम्यग्दृष्टि को सम्यग्दृष्टि के प्रति अन्तर में प्रेम होता है, उन्हें उनकी बात सुनते ही प्रेम उमड़ आता है । जिसे धर्म के प्रति प्रेम होता है उसे धर्मी के प्रति प्रेम होता ही है ; क्योंकि धर्म और धर्मी कहीं भिन्न नहीं हैं । कहा भी है – न धर्मो धार्मिकैः बिना ।

यह तो सम्यग्दर्शन सहित आठ अंग की बात है ; परन्तु इसके पूर्व भी धर्म में जिज्ञासु को धर्म के प्रति वात्सल्य, धर्मात्मा का बहुमान आदि भाव होते ही हैं । मोक्ष का सच्चा कारण तो अन्तर में परद्रव्य से भिन्न अपने आत्मा की रुचि और ज्ञान करना है । सम्यग्दर्शन के बिना शुभभाव से मोक्षमार्ग नहीं होता सम्यग्दर्शन के बाद भी जो शुभराग है, वह मोक्षमार्ग नहीं है । मोक्षमार्ग तो सम्यग्दर्शनादि वीतरागभाव ही है । जहाँ राग की भूमिका है, वहाँ ऐसे वात्सल्यादि भाव अवश्य आते हैं ।

'कारणशुद्धपर्याय' में मुख्यतः यह बतलाया है कि जीव के हित का साक्षात् कारण स्वयं जीव में ही वर्तमान में वर्त रहा है, उसे कहीं अन्यत्र ढूँढने नहीं जाना है। जीव को जिसके आधार से वर्तमान में पुरुषार्थ द्वारा विशेष कार्य करना है, यदि वह कारणरूप से वर्तमान में परिपूर्ण न हो तो वह कार्य किसके अवलम्बन से प्रगट होगा ? 'कारणशुद्धपर्याय' ने सम्पूर्ण द्रव्य को वर्तमान में झेल रखा है, वह वर्तमान निकट का कारण है ; इसलिए उसकी मुख्यता और विभावों की गौणता करने से कार्य की सिद्धि होती है।

यह ऐसा ध्रुवकारण है कि जो कार्य की सिद्धि होने के बाद भी सदा उसके साथ ही वर्तता है। मति-श्रुतादि ज्ञान तो पीछे रह जाते हैं, छूट जाते हैं। केवलज्ञानादि चतुष्टय के साथ पंचमभावरूप वर्तनेवाली कारणशुद्धपर्याय ही है ; सदैव साथ रहनेवाली — ऐसी कारणशुद्धपर्याय ही नये-नये कार्य का कारण है।

देखो, यह सदैव साथ रहनेवाला साथी ! जो साथ छोड़ दे, उसका क्या विश्वास ? इसलिये अन्तर्मुख होकर अखण्ड कारणरूप से सदैव साथ वर्तते हुए ऐसे अपने स्वभाव का ही विश्वास कर, मोक्ष में जाने के लिए उसी का साथ ले। सिद्धपद में भी वह सदैव साथ रहेगा। संयोग, विभाव तथा ज्ञानादि की अल्प विकसित पर्यायें जीव के साथ सदा नहीं रहती।

यह कारणशुद्धपर्याय अनादि-अनंत एकरूप से प्रत्येक जीव में पृथक्-पृथक् वर्त रही है। जगत में संसारपर्याय तो सामान्यरूप से अनादि-अनंत है, परन्तु उसमें से जो जीव अपना भान करके मोक्षमार्ग तथा मोक्ष प्रगट करता है, उसके लिए संसार अनादि-सांत है।

मोक्षपर्याय भी जगत में सामान्यरूप से अनादि-अनंत है, परन्तु प्रत्येक जीव की अपेक्षा से जिस जीव ने जब से मोक्ष प्राप्त किया, तब से उसके लिए मोक्ष सादि-अनंत है।

तथा जो कारणशुद्धपर्याय है, वह तो प्रत्येक जीव को संसार में या मोक्ष

में अनादि-अनन्त वर्तती है, किन्तु उसकी प्रतीति नहीं हुई है; अत: जब उसकी प्रतीति हो, ज्ञान हो, तब उसका कार्य (सम्यग्दर्शनादि) प्रगट होता है ।

जिसप्रकार घर में निधान तो पहले से ही पड़ा हो, किन्तु जब उसकी प्रतीति करके उपभोग किया जाये, तब वह काम में आया कहलाता है । उसीप्रकार कारणस्वभावरूप निधान तो आत्मा में अनादि-अनन्त है, किन्तु उसका भान करके जब श्रद्धा-ज्ञान से उसे अपना कारण बनाया, तब कारण का कारणपना सफल हुआ और तब ऐसा लगा कि अहो ! यह कारण तो मुझमें पहले से ही था 'कारण' की प्रतीति स्वयं कारण नहीं है, प्रतीति तो कार्य है । कार्य अर्थात् सम्यग्दर्शनादि । इसप्रकार सम्यग्दर्शनादि प्रगट करनेवाले को ही उसके कारण का सच्चा स्वरूप तथा महिमा समझ में आती है । अहाहा ! कारण-कार्य की कैसी बेजोड़ संधि है ?

लोग कहते हैं कि आप 'कारण' को मानते हैं या नहीं ? हाँ भाई, हम कारण को मानते हैं; लेकिन हम पूछते हैं कि सच्चा कारण कार्य देने की शक्ति सहित होता है या शक्तिरहित ? जिसमें कार्य देने की शक्ति न हो उसे सच्चा कारण कैसे कहा जा सकता है ? अत: निमित्त-कारण और व्यवहार-कारण की बात तो दूर रही; उनमें तो कार्य देने की शक्ति है ही नहीं, निश्चय मोक्षमार्गरूप जो कारण है, उसमें भी मोक्ष देने की पूर्ण शक्ति नहीं है, अशत: शवित है । इसलिये वह मोक्षमार्ग भी सच्चा कारण नहीं है । मोक्ष का मूल कारण आत्मा की पंचमभाव परिणति है अर्थात् पंचमभाव परिणति सहित वर्तता हुआ आत्मस्वभाव ही मोक्ष का साक्षात् मूल कारण है, उसी में मोक्ष प्रदान करने की शक्ति है । जिसमें जो कार्य देने की शक्ति हो, उसी को उसका सच्चा कारण कहा जायेगा न ! मोक्ष के लिए बाहरी कारण नहीं जुटाना पड़ता ; उसके लिये भीतर साक्षात् कारण विद्यमान हैं, उसका अवलम्बन करने पर बाह्यकारण तो वहाँ स्वयमेव होते ही हैं ।

'कारणशुद्धपर्याय' के वर्णन द्वारा यहाँ जो आत्मा का निकट कारणपना बतलाना है, उसका सामान्य दृष्टान्त इसप्रकार है ।

जिसप्रकार रेत और लैंडी पीपल दोनों में रसगुण होने पर भी, चौंसठपुटी चरपराहट देने के लिये निकट का कारण लैंडी पीपल में है, उसीप्रकार कार्य प्रगट होने के लिये आत्मा में त्रिकाल सामर्थ्य होने पर भी वर्तमान वर्तता हुआ उसका कारणपना (जिसका यहाँ कारणशुद्धपर्याय रूप से वर्णन किया है) सीधा निकट का कारण समस्त जीवों में वर्त रहा है । जिसप्रकार निकट के कारण की अपेक्षा से लैंडी पीपल और रेत में भेद किया, उसी प्रकार जीवों में दो भेद नहीं होते कि एक जीव में कारण निकट हो और दूसरे में निकट नहीं हो ; यह 'कारण' तो समस्त जीवों को सदा निकट ही (वर्तमान में ही) है । उसका कारणरूप से स्वीकार करे, बस कार्य प्रगट होने में इतनी ही देर है । है तो निकट ही, किन्तु अज्ञान के पर्दे के कारण दूर हो गया है; उस अज्ञान के पर्दे को भेद-विज्ञान द्वारा हटा कर सीधे कारण के साथ सम्बन्ध करके निर्मलकार्य प्रगट करने की यह बात है ।

देखो, टीकाकार मुनिराज ने अद्भुत बात की है, वे मुनिराज कहते हैं कि प्रभो ! तेरे केवलज्ञान का कारण तेरे निकट – तेरे पास ही है । वह पूजित है, आदरणीय है ; उसकी शरण लेने से सर्व मनोरथ सिद्ध हो जाते हैं । कौन-से मनोरथ तो कहते हैं कि मोक्ष के । मुमुक्षु को मोक्ष के सिवा अन्य और कौन-से मनोरथ हो सकते हैं ?

यहाँ जो त्रिकाली द्रव्य-गुण और कारणशुद्धपर्याय का स्वरूप कहा, उसकी जो भावना करेगा । उसे सम्यग्दर्शन से लेकर सिद्धपद तक के सभी शुद्धकार्य प्रगट होंगे और वह अपने सर्व मनोरथ के स्थानभूत ऐसी परमानन्दरूप मोक्षदशा को प्राप्त करेगा ।

-- इसप्रकार संतों के आशीर्वादपूर्वक यह कारणशुद्धपर्याय का विवेचन पूर्ण हुआ ।

* * *